ISSN : 2321-3922
जुलाई–2016
BIHHIN05394

# सुसंभाव्य

## हिंदी त्रैमासिक

www.susambhavya.com

सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध पत्रिका

# सुसंभाव्य

(सृजन एवं समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध पत्रिका)

जुलाई–2016

संस्थापक–सह–प्रधान संपादक
श्री दयानन्द जायसवाल

**संयोजक**
डॉ. विजय कुमार सिंह

**संरक्षक**
श्रीमती प्रतिभा सिन्हा

**सम्पादक**
डॉ. गिरिजा शंकर मोदी
डॉ. अश्विनी
प्रवीण कुमार

**संस्थापक सदस्य**
डॉ. राम किशोर शर्मा
श्री उमाकान्त भारती
श्रीमती संयुक्ता गुप्ता

**विशिष्ट सदस्य**
श्री अजय कुमार सिंह
श्री सत्यदेवेश प्रसाद
श्री शिवनन्दन प्रसाद सिंह
श्रीमती छाया पाण्डेय

स्वत्वाधिकारी व प्रकाशक : श्री दयानन्द जायसवाल
संपादन, संचालन, प्रबंधन एवं समस्त
व्यवस्था अवैतनिक एवं अव्यावसायिक ।
रचनाओं के लिए रचनाकार स्वयं उत्तरदायी।
समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र
भागलपुर।

ISSN - 2321-3922
TITLE CODE : BIHHIN05394

**सम्पर्क : श्री दयानन्द जायसवाल**
मौर्या जुबिली प्लेस, जीरोमाईल
भागलपुर–813210 (बिहार)
मो० : 09931240303, 09570838880
वेबसाईट : www.sambhavya.net
www.susambhavya.com
ई–मेल : dnj.sambhavya@gmail.com

# सुसंभाव्य

## हिंदी त्रैमासिक

वेबसाईट : www.susambhavya.com

## आमंत्रण

'सुसंभाव्य' अंतराष्ट्रीय स्तर की पूर्णतः निःशुल्क हिंदी त्रैमासिक है। वर्तमान समय में विश्व के 39 देशों के पाठक सहित भारत के 89 शहरों के सहृदयों का स्नेह इस पत्रिका को प्राप्त है।

इसका ई–संस्करण विश्वग्राम के सभी सुधी पाठकों एवं स्नेहीजन के लिए www.susambhavya.com पर सहजता के साथ सुलभ है। मुद्रित संस्करण यथासंभव रचनाकारों, हिंदी के लिए समर्पित संस्था और संस्थानों को उपलब्ध कराया जाता है।

श्रेष्ठ चिंतन को सहज–सरल अभिव्यक्ति के माध्यम से जब कोई व्यक्ति सार्वभौम होकर जन–गण में व्याप्त हो जाता है तब वह व्यक्ति से व्यक्तित्व और व्यक्तित्व से संस्थान बन जाता है। ऐसे महान विभूतियों से आग्रह है कि अक्टूबर–2016 अंक में प्रकाशन हेतु अपनी मौलिक, नवीनतम एवं प्रतिनिधि रनचाएं अपने पत्राचार–पता के साथ मेल करें या कोरियार तथा डाक से सम्पर्क पते पर भेजें।

आइये सब मिलकर सामाजिक सरोकार से संबंधित सार्वभौम, सार्वजनीन एवं श्रेष्ठ साहित्य के माध्यम से धर्म–मज़हब, जाति, लिंग, वर्ण, वर्ग और नस्ल–भेद की दीवार हँटा दें और सिर्फ इंसान बनें तथा उत्तम ज्ञान एवं श्रेष्ठ आचरण से स्वयं का परिष्कार कर विश्वग्राम का सौभाग्य बनें।

रचनाएं भेजें :–

E-mail : dnj.sambhavya@gmail.com
dnj.susambhavya@gmail.com

संपादक
सुसंभाव्य हिन्दी त्रैमासिक

सुसंभाव्य

जुलाई–2016

ISSN - 2321-3922
TITLE CODE : BIHHIN05394

# अनुक्रम


| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1 | पुरोवाक् | – | संस्थापक की कलम से | – दयानन्द जायसवाल | 5 |
| 2 | आलेख | – | धारा के विरूद्ध हरिवंश की पत्रकारिता और प्रयोग | – आर० के० नीरद | 6 |
| 3 | पुस्तक चर्या | – | सृजन, समय और समाज के आईने में | – अनिल कु० पाण्डेय | 9 |
| 4 | कविता | – | दर्द | – संयुक्ता गुप्ता | 12 |
| 5 | रिपोर्ताज | – | धर्मं शरणं गच्छामि | – मनोरंजन सहाय सक्सेना | 13 |
| 6 | गीत | – | गम टांक दो मेरे दामन में | – शशिकला झा | 19 |
| 7 | समीक्षा | – | एक बेचैन कवि का हलफ़नामा | – अशोक सिंह | 20 |
| 8 | कविता | – | शिनाख़्त | – निर्मल मिलिन्द | 21 |
| 9 | समीक्षा | – | समय की गाँठ खोलता सा : माधुर्य | – डॉ० अनुज प्रभात | 22 |
| 10 | कहानी | – | माँ | – डॉ० नीरजा हेमेन्द्र | 23 |
| 11 | कहानी | – | रिश्तों की अहमियत | – डॉ० नलिनी श्रीवास्तव | 26 |
| 12 | आलेख | – | राम–काव्य परम्परा और साकेत | – डॉ० अवधेश चन्सौलिया | 28 |
| 13 | कविता | – | यह कैसा है सम्मान बन्धु | – डॉ० कमलेश द्विवेदी | 29 |
| 14 | पुस्तक चर्या | – | विविध चिन्तनों का माध्यम हिन्दी | – डॉ० शिव प्रसाद शुक्ला | 30 |
| 15 | कविता | – | मेरे गाँव के लोग | – रवीन्द्र कंचन | 31 |
| 16 | आलेख | – | स्वामी विवेकानन्द और उनके संदेश | – डॉ० विजय कुमार वर्मा | 32 |
| 17 | कविता | – | सभ्यता की आड़ में | – श्रीकृष्ण कुमार यादव | 33 |
| 18 | संस्मरण | – | मौन का सर्जनशील सौन्दर्य | – कृष्ण बिहारी मिश्र | 34 |
| 19 | समीक्षा | – | किसी–किसी पे ग़ज़ल मेहरबान होती है | – दयानन्द जायसवाल | 39 |
| 20 | कविता | – | मिट्टी की याद | – डॉ० रविशंकर सिंह | 40 |
| 21 | भेंट वार्ता | – | संघर्ष के कोख से उपजी: एक साहित्यकार | – डॉ० गिरिजा शंकर मोदी | 41 |
| 22 | कविता | – | यंत्र संचालित खिलौने | – डॉ० महाश्वेता चतुर्वेदी | 44 |
| 23 | कविता | – | आदमी को आदमी का प्यार दो | – आचार्य बलवन्त | 45 |
| 24 | लोकवाणी | – | | – | 46 |

# गुलाम

घास पड़ी ओस चमकने से पहले गरज उठता है भौंपू
और कॉपने लग जाती है गुलामों की झोपड़ियाँ
कथरियों में लपेटे जाते हैं शिशु
देकर मुँह में चुसनियाँ

भकोसी जाती है पेट में–बासी रोटियाँ और नमक
मैं देखती हूँ उन्हें पौ फटने के पहले से ही हड़बड़ाते जबकि
सोते हैं उनके कीमती
हाथी–दाँते से स्वामी घरों में

और देखते हैं सपने सुख, वैभव और शोषण के
मैं सो नहीं सकती फिर से, भौंपू की दूसरी गरज के साथ पीठ
पड़ता है चाबुक उड़ा देता सुस्ती को

कभी–कभी सुनाई पड़ती साफ उनमें से मेरी बहन की आवाज
चीखती वह 'दया'! 'दया'!! उन दिनों
खाट पर लेटी मैं, काँपती रहती सुबह की धूप में

और जैसे–जैसे खिलता जाता धानी रंग खेतों का
वे जुट जाते फूलों के गुच्छों पर
लदी मधुमक्खियों की तरह
मैं रोती हूँ, अभी भी उजाला नहीं हुआ।

रीटा डब
पुलित्जर पुरस्कार सम्मानित
अमेरिका

अनुवाद : रवि बुले

पुरोवाक्

दयानन्द जायसवाल

# संस्थापक की कलम से

आदर्श सही हो, तो जीवन सहज और सुन्दर हो उठता है। जो सहज जीवन जीनेवाला और अनुशासित रहता हो, उसे आदर्श के तौर पर बेझिझक अपनाना चाहिए, लेकिन अमूनन यह आसान नहीं होता। हमारी प्राथमिकताएँ अलग होती हैं। जैसा समय होता है, आदर्श भी वैसे ही होने लगते हैं। गलती यह होती है कि आदर्श को हम हलके में लेते हैं। उसकी हासिल चीजों को देखतें हैं, उसकी मेहनत और उसने जो खो दिया है, उसे नहीं। हममें से ज्यादातर लोग इसी भ्रम में अपनी तमाम उम्र गुजार देते हैं कि अगर कहीं वे भूल से भी पल भर को रुक गये तो जिन्दगी की दौड़ में बहुत पिछड़ जायेंगे। वक्त कई सदी आगे हो जाएगा। वे अपना सब कुछ खो सा देंगे। हमारी सोच का नतीजा होता है कि हम दिन–रात तेज और तेज दौड़ते रहते हैं। परिणाम में हाथ लगता है तो एक प्रकार का आवेश, उबाल, और अवसाद। ज़िन्दगी की झोली में रहती है तो सिर्फ उत्तेजना, चिंता, निराशा और अशांति। शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए अपने दौड़ने की तफ्तार को कम करना चाहिए। तेज चाल न केवल हमें शारीरिक रुप से बर्बाद करती है बल्कि हमारे मन मस्तिष्क को चीरती हुई आत्मा के भी टुकड़े कर देती है। हमारे विचारों का चरित्र हमारी रफ्तार का निर्धारण करता है। यह मनुष्य के लिए संभव है कि शारीरिक रुप से शांत अस्तित्व में रहते हुए अपनी मानसिक व भावनात्मक रफ्तार को व्यक्तित्व निर्माण में बनाये रखे।

व्यक्तित्व को खोजने और उसे एक सशक्त माध्यम से स्वरुप प्रस्तुत करने के लिए साहित्यकार अपने क्षेत्र–विशेष की प्राकृतिक बनावट, सीमाओं, क्षेत्रफल, खेत, नदी, पहाड़, मैदान, पशु–पक्षी, मिट्टी–पानी जहाँ तक हो सके, वहाँ की मिट्टी की सौंधी महक से परिचित कराने की क्षमता, मूल्यबोधी आदर्श की विशिष्टता से जुड़ते हैं। कहीं–न–कहीं उनमें जीवन संदेश भी रहते हैं, जिसके बल पर क्षेत्र या अँचल विशेष की रहकर भी यह खोज समस्त विश्वग्राम की हो जाती है।

जीवन क्रम की पूर्ण प्रस्तुति, सुख–दुःख, द्वन्द्वों का निरुपण, संकल्प–विकल्प का आलेखन जब साकार हो उठता है तो ऐसी कृति में विश्वसनीयता बनती है। क्योंकि जिसे हम प्रतिभा कहते हैं, वह अचूक स्मृति और चेतन की अतिसक्रियता से पैदा नहीं होती ।यह अन्तस्लोक या अवचेतन के रहस्य लोक से प्रेरित होती है। ऐसे ही 'सुसंभाव्य' के समस्त प्रतिभावान रचनाकारों द्वारा सर्जनात्मक कृतियाँ सिरजी और गढ़ी गई है। इनकी यथार्थ दृष्टि, यथार्थ निरुपण तक हीं नहीं रुकती वह सुसंभाव्य या आदर्श तक भी जाती है। आज हम इन्हीं के आदर्शों, सर्जनात्मक भाव की अन्तश्चेतना के प्रवाह में संभाव्य से सुसंभाव्य तक पहुँच पाये हैं। इसे विकसित करने और उड़ान भरने लायक बनाने में जो भी वक्त लगा बहुत कम ही लगा। हलाँकि इसको लेकर कई तरह की शंकाएँ भी थी, किन्तु मैं इसके पाठकों और रचनाकारों का शुक्रगुजार हूँ कि इसके विकास के कई रास्ते खोल रहे हैं।

साहित्य की आत्मा एक है, चाहे वह किसी भी भाषा, किसी भी काल, किसी भी विधा में लिखी गई हो या उसका कोई भी कलेवर हो। साहित्य हमारा जीवन, हमारी संवेदना है। इसमें हमें विश्वास और मूल्यों का जीवन प्राप्त होता है। नये विचारों को व्यक्त करने के लिए रचनाकार नये रुपों की खोज करते हैं। आज अनन्त नयी अनुभूतियाँ नये रुपों को जन्म दे रही हैं। युग जब बंध जाता है, तब रुप भी बंध जाता है। ऐसी परिस्थिति में उस विरासत की परिवर्तित नयी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए प्रत्येक आधुनिक रचनाकारों को नये रुपों की खोज करनी पड़ती है।

साहित्य का लक्ष्य रोटी और नमक जुटाना नहीं और न ही उसका उद्देश्य घर में झाड़ू लगाना है। साहित्यकारों का काम मनुष्य की आत्मा का परिष्कार करना है। वह आत्मा का शिल्पी है। संपूर्ण संभावित मनुष्य के सामर्थ्य का उद्घाटन किसी भी क्षेष्ठ रचना का लक्ष्य है और इसी में उसकी मौलिकता तथा निजता निहित है। जिसकी अनुगुंज पढ़ने के बाद अस्तित्व के पोर–पोर को झंकृत कर दे। आज के साहित्यकार हों या अतीत के यही रागात्मक जीवन का सबसे स्वाभाविक रुप है। साहित्य व्यक्ति और शेष प्रकृति तथा मनुष्य और ब्रह्माण्ड के रिश्ते की तलाश है। अंधेरे में घुमते हुए पाठक, दिल से–झुरमुट में या तारों भरी रात के बीच साहित्य की कम–से–कम एक पंक्ति की जरुरत महसूस करें तभी हमारी सार्थकता है।

आलेख

# धारा के विरुद्ध हरिवंश की पत्रकारिता और प्रयोग

–आर.के. नीरद उर्फ रणजी कुमार सिन्हा
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, सि.का.मु. विश्वविद्यालय,
दुमका, 9431177865

जो लोग हिन्दी पत्रकारिता की साठोत्तरी प्रवृत्तियों से परिचित हैं, वे हरिवंश की प्रयोग धर्मिता की विशेषताओं को भी जानते हैं। खासकर 1989 के बाद धारा के विरुद्ध उनकी पत्रकारिता और प्रयोग को लेकर, जब उन्होंने राँची से छपने वाले हिन्दी दैनिक 'प्रभात खबर' को पुनर्जीवन प्रदान किया। हरिवंश का पत्रकारिता के क्षेत्र में आगमन तो 1977 में ही हुआ, जब वह 'धर्मयुग' के उपसंपादक बने। 1981 तक इससे जुड़े रहे। उस समय धर्मवीर भारती उसके संपादक थे और पत्रकारिता की छह–सात लाख प्रतियाँ हर सप्ताह देशभर में बिकती थीं। उस काल खंड में हरिवंशजी को राष्ट्रीय पहचान मिली। उसके बाद के तीन साल (1981 से 1984 तक) उन्होंने बैंक की नौकरी की, किन्तु पत्रकारिता के मोह ने उन्हें वहाँ टिकने नहीं दिया। 1985 में आर्थिक सुरक्षा और बेहतर भविष्य की गारंटी देनेवाले बैंक की नौकरी को छोड़कर वह कोलकाता चले गये, जहाँ आनंद बाजार की पत्रिका 'रविवार' के सहायक संपादक बने। 'धर्मयुग' और 'रविवार' में काम करते हुए उन्होंने एक पत्रकार–संपादक के रूप में खूब ख्याति प्राप्त की। उनकी रिपोर्ट देशभर में सराही गयी। आज भी उन्हें उन खबरों को लेकर बहुत सारे लोग उन्हें याद करते हैं, लेकिन हरिवंशजी की असली परीक्षा 'प्रभात खबर' में हुई। जो 'प्रभात खबर' बंद होने के कगार पर था और जिससे जुड़ना अपने कैरियर को नष्ट करने जैसा कदम माना जा रहा था, उसे उन्होंने तीन राज्यों (झारखंड, बिहार और पश्चिम बंगाल) के दस स्थानों से दमदार प्रकाशन तक पहुँचाया। जब 'रविवार' छोड़कर उन्होंने 'प्रभात खबर' के प्रस्ताव को स्वीकार किया था, तब पत्रकारिता जगत् के पुरोधा, इंडियन एक्सप्रेस के तत्कालीन राँची संवाददाता एन.डी. शर्मा ने 'नवभारत टाइम्स' के राँची कार्यालय में कहा था–'हरिवंश का दिमाग खराब हो गया है।'[1]

आज वही 'प्रभात खबर' देश में तेजी से विकसित हुए क्षेत्रीय समाचार–पत्रों में शीर्ष स्थान पर है। कामयाबी ने उन्हें और उनके 'प्रभात खबर' को पत्रकारिता एवं अखबार प्रबंधन के क्षेत्र में राष्ट्रीय स्तर पर शोध का विषय बनाया। हरिवंशजी ने तीन शब्द का मंत्र बनाया, सृजन, संघर्ष और अस्तित्व की रक्षा। इसी चिंतन के साथ उन्होंने काम किया, इसमें मौलिकता थी, अनुभव का पुट था, देशज और सहज प्रयोग थे। उन्होंने सृजन पक्ष पर सबसे पहले ध्यान दिया। जनपक्ष को आधार बनाया और दक्षिण बिहार के सबसे बड़े जनसरोकार को उठाने का निर्णय लिया। यह झारखंड अलग राज्य को लेकर चल रहे आंदोलन उत्तरार्द्ध था। विभिन्न राजनीतिक कारणों से झारखंड आंदोलन की लड़ाई कमजोर पड़ने लगी थी, उसमें बिखराव और ठहराव की स्थिति आ गयी थी। 'प्रभात खबर' ने उस आंदोलन को अपने सृजन का बड़ा विषय बनाया और अलग राज्य की झारखंड संवेदना को दिशा देने का निश्चय किया। वह इसके लिए बड़ा मंच बनकर उभरा। डॉ. रामदयाल मुंडा और डॉ. अमर कुमार सिंह जैसे विद्वानों को आमंत्रित किया गया। उन्होंने झारखंड आंदोलन को गति देने के लिए 'प्रभात खबर' में स्तंभ लेखन किया। इसका लाभ यह हुआ कि झारखंड आंदोलन को बौद्धिक ऊर्जा मिली और 'प्रभात खबर' झारखंडी जनमानस का प्रतीक बना। यह काम राँची और दक्षिण बिहार (अब झारखंड) के अन्य भागों में स्थापित दूसरे अखबार उस अनुपात और प्रतिबद्धता से नहीं कर सके।[2]

दरअसल, हरिवंशजी का पत्रकारिता में आगमन ही लीक से हटकर कुछ नया करने के संकल्प के साथ हुआ ही था। वह कहते हैं, यह सवाल मन में उठता रहा कि पत्रकारिता को एक विधा के तौर पर समाज को और नजदीक और गहराई से समझना–जानना चाहिए, पत्रकारिता को धर्म और काम के अनुसार समाज की प्रयोगशाला बनना चाहिए। जीवन के निर्णायक मोड़ पर इस मानस ने महत्त्वपूर्ण फैसले के लिए मजबूर किया। जे.पी. आंदोलन का वैचारिक असर अलग था।[3]

यह वह दौर था, जब देश बदल रहा था। अर्थनीति बदली, एकदलीय राजनीति से बहुदलीय राजनीति हुई। साझा और संविद सरकारों का युग भी शुरू हो गया था। एक तरफ ग्लोबलाइजेशन का दौर था, ग्लोबल गाँवों के उदय हो रहे थे, तो दूसरी ओर क्षेत्रीयता और लोकलाइजेशन के दौर पनप रहे थे। केन्द्र में क्षेत्रीय दलों की ताकत और जोर बढ़ रहे थे और राज्यों में क्षेत्रीय ताकतें निर्णायक भूमिका में आ रही थीं। उस बदलते दौर को ग्रासरूट से ही समझा–देखा जा सकता था, दिल्ली और शीर्ष से नहीं। इस देश में उलटी परंपरा है, ऊपर से नीचे देखने की यानी दिल्ली में बैठे लोग ऊपर से ही, शीर्ष से ही सब कुछ आँकने–देखने की कोशिश करते हैं, ठीक उसके विपरीत सन् 1991 में नीचे से चीजों को देखने, सच के अधिक करीब होने की इच्छा से इन सवालों के करीब खड़ा किया।[4]

जीवन के निर्णायक मोड़ पर इस मानस ने महत्त्वपूर्ण फैसले के लिए मजबूर किया। जे.पी. आंदोलन का वैचारिक असर अलग था। 1991 देश के लिए एक लैंडमार्क की तरह है। सभी क्षेत्र में यह आर्थिक उदारीकरण की शुरुआत का वर्ष है। इसके बाद से देश के प्रत्येक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन आये। सबसे बड़ा परिवर्तन आर्थिक क्षेत्र में आया। खुली अर्थव्यवस्था का दूरगामी प्रभाव पड़ा। इससे अच्छे परिधान भर आये और बुरे भी। यह यही वर्ष है, जब हरिवंश 'प्रभात खबर' के साथ प्रयोग कर रहे थे। पत्रकारिता और अखबार के लिए पूँजी जुटाने, दोनों स्तर पर। स्पष्ट है कि हरिवंश ने इसी प्रभाव में अपनी दोहरी भूमिका की दिशा तय की। एक ओर तकनीकों के

विकास ने पत्रकारिता के स्वरूप में बदलाव लाया। यह बदलाव 'प्रभात खबर' के जरिये हरिवंश में आया। उन्होंने इस बदलाव को सकारात्मक रूप में स्वीकार किया और इसके साथ भी प्रयोग किया, वहीं पत्रकारिता में मौलिकता बनाये रखी। हर प्रयोग में मौलिकता दिखती है; क्योंकि वह इस तथ्य को भली प्रकार समझते रहे हैं कि मौलिकता में ही दीर्घता और स्थायित्व है। वह पिछले सालों में समस्त परिवर्तनों के मध्य भी अपनी मौलिकता को बचाकर रखे हुए हैं।

जब हरिवंश जी 'प्रभात खबर' से जुड़कर प्रयोग कर रहे थे, उस कालखंड की अखबारी दुनिया पर नजर डालें, तो उनके साहस, प्रयोग और परिणाम हमें चमत्कृत करते हैं। झारखंड तब बिहार का हिस्सा था और राज्य के साथ–साथ राजनैतिक गतिविधियों की राजधानी पटना था। पटना से 'आर्यावर्त', 'हिन्दुस्तान' और 'नवभारत टाइम्स' का प्रकाशन हो रहा था। पटना से 'हिन्दुस्तान' और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का प्रकाशन 25 अगस्त, 1986 को शुरू हुआ था। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' पहले, 1894 में 'बिहार टाइम्स' नाम से साप्ताहिक समाचार–पत्र के रूप में प्रकाशित होना शुरू हुआ था। 13 अप्रैल, 1912 को यह बिहारी बिहार दैनिक में बदला। इसके प्रकाशन की निरंतरता की गारंटी 'हिन्दुस्तान टाइम्स' से मिली और 'दैनिक प्रदीप' अब 'हिन्दुस्तान' नाम से छपने लगा। हरिनारायण निगम इसके प्रथम संपादक बने। वह पहले कानपुर में थे।[5]

'नवभारत टाइम्स' का पटना से 1986 में प्रकाशन शुरू हुआ और करीब नौ वर्ष के भीतर 1985 में बंद हो गया। उस समय 'पाटलिपुत्र टाइम्स' भी पटना से निकल रहा था, बाद में वह भी बंद हो गया। 'आर्यावर्त' और 'इंडियन नेशन' में भी बंदी चल रही थी। करीब 1200 कर्मचारियों वाले ये दोनों अखबार पूँजी के बड़े निवेश की स्थिति में नहीं रह गये थे। फोटो, टाइप, सेटिंग और ऑफसेट मशीन जैसे आधुनिक संसाधन में पैसे लगाने की भी स्थिति नहीं रही। लिहाजा अखबार के तेजी से बदलते स्वरूप में ये पिछड़ते गये। हालाँकि इनके बंद होने की और भी वजहें रहीं, जिनमें वित्तीय कारण अहम् था।

1995 का साल बिहार के अखबारी कारोबार के लिए सबसे अशुभ रहा। इस साल 'नवभारत टाइम्स' तो बंद हो ही गया, आर्यावर्त, इंडियन नेशन और पाटलिपुत्र टाइम्स को पुनर्जीवित करने के अंतिम प्रयास भी विफल रहे। यद्यपि संपादकीय टीम तीनों की अच्छी थी। हीरानंद झा शास्त्री के संपादकत्व में 'आयावर्त', दीनानाथ झा के संपादकत्व में 'इंडियन नेशन' और विजय भास्कर के संपादकत्व में 'पाटलिपुत्र टाइम्स' का फिर से प्रकाशन शुरू हुआ। पुरानी टीम तो थी ही, लेकिन यह प्रयास सफल नहीं हुआ। 'पाटलिपुत्र टाइम्स' को राजनीतिक संरक्षण प्राप्त था। पूर्व मुख्यमंत्री डॉ. जगन्नाथ मिश्र के राजनीतिक सहयोगी भरत राय का इसे निर्देशन मिला, लेकिन पाँच–छह माह भी अखबार नहीं चल सका। भरत राय बेतिया से चुनाव लड़े और हार गये, उसके बाद अखबार भी बंद हो गया। कर्मचारियों को एक माह का भी सही–सही वेतन नहीं मिल पाया।

तब पटना में दो बड़े अखबार रह गये थे–एक 'हिन्दुस्तान' और दूसरा 'आज'। 'आज' तब सत्ता से निकटता और बनारसी शैली को लेकर अलग धारा की पत्रकारिता कर रहा था, जबकि हिन्दुस्तान देश–दुनिया के बदलते अखबारी मिजाज, आधुनिकीकरण और कॉरपोरेट सोच के साथ नयी दिशा में तेजी से बढ़ता गया। इससे चुनौती बढ़ी। इसी चुनौती का विस्तार उसने राँची में करना चाहा, लेकिन 'प्रभात खबर' उससे मुकाबले के लिए पूरी तरह तैयार बैठा था। हर स्तर पर उसने अपनी क्षमता बढ़ाई। संपादकीय टीम का नेतृत्व हरिवंशजी तो कर ही रहे थे, प्रबंधन और संसाधन के क्षेत्र में भी के.के. गोयनका और आर.के. दत्ता की टीम ने खुद में बड़ा बदलाव लाया। जहाँ पटना में 'आज' और राँची में 'राँची एक्सप्रेस' जैसे पुराने और जमे–जमाये अखबार नयी टेक्नॉलोजी के प्रति उदासीन रहे, वहीं 'प्रभात खबर' ने न्यूज लाइन श्रेणी की प्रिंटिंग मशीन खरीद ली।[6]

'नवभारत टाइम्स' के पटना सहित तीन–तीन संस्करणों के बंद होने और उसी कालखंड में 'प्रभात खबर' के संस्करणों के प्रसार के मूल की पड़ताल से यही निष्कर्ष निकलता है कि 'नवभारत टाइम्स' के पास संसाधन थे, लेकिन शीर्ष नेतृत्व नहीं था, जो विपरीत परिस्थितियों में अखबार को सही दिशा दे पाता। वहीं 'प्रभात खबर' के पास संसाधन सीमित थे, लेकिन शीर्ष नेतृत्व हरिवंश के पास था, जो विपरीत परिस्थितियों में भी अपनी खास लेखन–चिंतन शैली और नेतृत्व की बदौलत अखबार को बेहतर दिशा दे रहे थे। उस समय दक्षिण बिहार (वर्तमान झारखंड) में अखबारी कारोबार के तीन केन्द्र थे–राँची, धनबाद और जमशेदपुर। राँची से 'राँची एक्सप्रेस' व 'आज', धनबाद से 'आवाज' व 'चमकता आईना' तथा जमशेदपुर से 'उदितवाणी' और 'आज' का प्रमुखता से प्रकाशन हो रहा था। कुछ भी अखबर थे, लेकिन बाजार में उनकी पकड़ थोड़ी कमजोरी थी या फिर उपस्थिति मात्र। 'राँची एक्सप्रेस' 1963 से निकल रहा था। आरंभ में यह भी साप्ताहिक अखबार था। 1989 तक यह पूर्णतः स्थापित हो चुका था। राँची और उसकी सीमा से जुड़ जिलों के पाठकों के लिए यह पहली पहुँच और पहली पंसद का अखबार था। 'आज' का भी प्रकाशन हो चुका था, लेकिन 'राँची एक्सप्रेस' उसकी तुलना में बहुत आगे था। उसका सामाजिक–राजनीतिक हस्तक्षेप बड़ा था। विज्ञापन दाताओं में उसकी पकड़ी थी। वहाँ किसी नये अखबार को शुरू करने का अर्थ था, 'राँची एक्सप्रेस' के एकाधिपत्य को तोड़ना। यानी न तो समय 'प्रभात खबर' के साथ था, न परिस्थितियाँ, लेकिन हरिवंशजी ने धारा के विपरीत चलने का निश्चय किया। अपने निश्चय और सोच को उन्होंने 'प्रभात खबर' के अपने संपादकीय में ही स्पष्ट कर दिया। इसमें देशज, जनोन्मुखी और वैचारिकता से सम्पन्न नयी किस्म की पत्रकारिता का संदेश था।[7]

हरिवंश जी प्रभात खबर के प्रधान संपादक तो थे ही, महाप्रबंधक भी थे; लेकिन अखबार के प्रबंधन का उन्हें जरा भी अनुभव नहीं था। हाँ, बैंकिंग क्षेत्र का प्रबंधकीय अनुभव उन्हें था। डॉ. रविभूषण (हरिवंश जी के वैचारिक मित्र और राँची हिन्दी विभाग के पूर्व अध्यक्ष) मानते हैं कि हरिवंशजी की इस नयी भूमिका में उनका यह अनुभव काम आया। बहरहाल, हरिवंश जी देश के अलग–अलग हिस्सों के उन क्षेत्रीय अखबारों को प्रबंधन का

अध्ययन करने निकले, जिनकी प्रसार संख्या ज्यादा थी। इनमें ईनाडु, मलयालम, मनोरमा और राजस्थान पत्रिका जैसे अखबार शामिल थे।8

'ईनाडु' देश में तेजी से बढ़नेवाला क्षेत्रीय अखबार है। 1974 में जब रामोजी राव ने विशाखापत्तनम में इसकी नींव रखी, तब यह साप्ताहिक था, बाद में दैनिक हुआ। इसके पास भी 'प्रभात खबर' की ही भाँति सीमित संसाधन थे। हाथ से कंपोजिंग होती थी। छपाई के लिए सेकेंड हैंड मशीन थी। 3000 प्रतियाँ छपती थीं, लेकिन महज दो साल में इसने बड़ी ऊँचाई प्राप्त की। 1976 में ए.बी.सी. (ऑडिट ब्यूरो और सर्कुलेशन) ने इसकी प्रसार संख्या 48000 दर्ज की। 1978 आते–आते इसने आंध्रप्रदेश के सभी खबरों को प्रसार में पीछे छोड़ दिया। 1997 में तेलगू भाषा के दैनिक अखबारों में इसकी प्रसार संख्या 75 प्रतिशत से अधिक हो गयी। 2012 यह देश के क्षेत्रीय भाषाओं के अखबारों में छठे स्थान पर पहुँच गया और आइ.आर.एस. (इंडियन रीडर सर्वे) में उसके पाठकों की संख्या 59 लाख से अधिक अंकित हो गयी।

मलयालम 'मनोरमा' भी सीमित संसाधन के साथ 22 मार्च, 1890 में शुरू हुआ साप्ताहिक अखबार था। बाद में यह दैनिक हुआ। मलयालम भाषा का यह अखबार वर्ल्ड एसोसिएशन ऑफ न्यूजपेपर की 2011 की रिपोर्ट के अनुसार दुनिया का पाँचवाँ सबसे ज्यादा प्रसार संख्या वाला अखबार माना गया। ए.बी.सी. (असॅफिट ब्यूरो ऑफ सर्कुलेशन) की 2013 की रिपोर्ट के अनुसार यह भारत में 'टाइम्स ऑफ इंडिया' और 'दैनिक जागरण' के बाद देश का तीसरा बड़ा अखबार (प्रसार की दृष्टि से) बना। केरल का सबसे ज्यादा प्रसार वाला अखबार तो यह है ही। यह समझा जा सकता है कि हरिवंशजी अगर 'प्रभात खबर' को आगे ले जाना चाहते थे, तो उनकी दृष्टि और उनका लक्ष्य कितना बड़ा था। इन अखबारों में प्रबंधन से उन्होंने सीखा और देशज प्रयोग के साथ 'प्रभात खबर' को आगे बढ़ाया। इसमें न केवल एक अखबार की प्रतियाँ, पाठक, संस्करण और बाजार बढ़े, बल्कि हिन्दी पत्रकारिता को लेखन के क्षेत्र में एक नया संस्कार दिया। प्रभाष जोशी के बाद हरिवंश ही हैं, जिन्हें हिन्दी पत्रकारिता का एक स्कूल माना जाता है। उनमें और प्रभाष जोशी में नयी पीढ़ी को तैयार करने को लेकर विशेष सतर्कता रही, जोशी जी के विषय में यह लिखते हैं कि जनसत्ता के साथियों से ही सुना–जाना कि जनसत्ता के दफ्तर में भी वह कभी बॉस नहीं रहे। उन्होंने अपनी टीम को आजादी दी, स्वायत्तता दी, कभी कुछ थोपा नहीं, बल्कि साथियों की प्रतिभा प्रस्फुटित हो, इसका उन्हें अवसर और माहौल दिया। इसी कारण जनसत्ता में ताजगी आयी। हर मोर्चे पर वह विशेष और नया रहा, प्रभाषजी को नजदीक से देखा तो पाया, उनमें हर पल एक सर्जक भी मौजूद रहता था। वह वीतरागी भी थे।[9]

हरिवंशजी ने अपने से बाद के साथियों को काम करने और ऑनरशिप के लिए हमेशा प्रेरित किया। यहाँ तक कि जिलों और कस्बों में काम करनेवाले 'प्रभात खबर' के प्रतिनिधियों को भी अपनी प्रतिभा और क्षमता के बेहतर इस्तेमाल का अवसर दिया। इसे वह पत्रकारिता के बेहतर भविष्य के लिए एक शीर्ष नेतृत्व के अनिवार्य दायित्व के रूप में रेखांकित करते हैं।....

हरिवंशजी जिस भारतीय पत्रकारिता के मॉडल हैं और उन्होंने पत्रकारिता का जो मॉडल तैयार किया, उसका स्वरूप और स्वभाव पूर्णत: देशज है, मौलिक है। उसमें सृजन और चिंतन का विशाल पुट है, अनुभव और प्रयोग का विस्तृत फलक है। उसमें आम आदमी है। स्वतंत्रता के दशकों के बाद न्यूनतम विकास से भी उनके वंचित होने की पीड़ा, आक्रोश और प्रतिरोध की अभिव्यक्ति है। यही वह तत्त्व है, जो उन्हें उनकी पत्रकारिता और उनके मॉडल को समकालीन भारतीय हिन्दी पत्रकारिता की परंपरा से अलग करती है।

–शोधार्थी, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, सिदो–कान्हू मुर्मू विश्वविद्यालय, कमलाबाग कॉलोनी दुधानी, दुमका

1. प्रभात खबर : मूल्यों को गढ़ने की कवायद, जेब अख्तर पृ.8
2. हरिवंश से एक साक्षात्कार
3. झारखंड : समय और संवाद, हरिवंश, पृ. 8
4. वही, पृ. 8
5. बिहार में पत्रकारिता का इतिहास, विजय भास्कर, पृ. 153
6. वही, पृ. 156
7. प्रभात खबर, 3 नवंबर, 1989, हरिवंश का प्रथम संपादकीय
8. प्रभात खबर रू प्रयोग की कहानी, अनुज कुमार सिन्हा
9. पांखी, प्रभाष जोशी और आज की पत्रकारिता विशेषांक
10. सपने, संघर्ष और चुनौतियाँ, हरिवंश, जनवरी 2011त

पुस्तक चर्या

# सृजन, समय और समाज के आईने में 'तम भाने लगा'

–अनिल कुमार पांडेय,
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़,
8528833317

आज आदमी खुद को इसलिए अधूरा, भटका और अकेला महसूस कर रहा है; क्योंकि वह समय और समाज दोनों की विपरीत धारा में विचरण करने लगा है। समय के विपरीत होने पर, जहाँ वह बहुत पीछे की तरफ धकेला गया है, वहीं समाज के विपरीत होने पर वह एकांतप्रियता और वैयक्तिकता के अधिक निकट पहुँच गया है। दोनों स्थितियाँ मानवीयता के लिए घातक हैं। यहाँ एक प्रवृत्ति का अधिक विकास हुआ है और वह है पाशुविकता का अर्थात् हम जहाँ से चले थे, वहीं पहुँचने का यत्न शुरू कर चुके हैं। वर्तमान साहित्य की चिंता का प्रमुख आधार यही होना चाहिए। गद्य साहित्य में ऐसा है कि नहीं, यह विमर्श का मुद्दा है, पर काव्य साहित्य में यह चिंता बराबर वर्तमान रही है। कविता मनुष्य को मनुष्यता ही देखने की हिमायती हैं। बात जब गीत की हो तो यह बात और भी प्रमाणित हो उठती है। गीत विधा अपनी संरचना में उतनी ही पुरानी है, जितना की मनुष्य या मनुष्यता के लिए किया गया उसका प्रयास।

मनुष्य जब–जब टूटा है, बिखरा है, गीत ने उसे संबल प्रदान किया है। इस पुस्तक की भूमिका में अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए नचिकेता जी कहते हैं–'यह निर्विवाद है कि गीत की रचना का संबंध लोक (जन)–मन की गति से होता है। गीत में जन–मन से अवसाद–उल्लास, सुख–दुःख, उमंग–उत्साह, आशा–आकांक्षा, जय–पराजय का परिवर्तनकामी संघर्ष–चेतना की अभिव्यक्ति होती है। साथ ही जन आंदोलन में गीत–रचना की लोकप्रियता, रचनात्मक गतिशीलता और विकास को सही दिशा मिलती है। तात्पर्य है कि गीत जब–जब जन–मन और जन आंदोलन के करीब आया है, उसकी रचनाशीलता गतिशील हुई है और उसकी लोकप्रियता बढ़ी।'[1] आज भी जब मनुष्य लगभग भटकाव की स्थिति में है, गीत विधा उसे मानव–पथ पर लाने के लिए अनवरत संघर्षरत है। संघर्ष की भावना को समझाने का कार्य हमारा है। गीत अपना कार्य कर रहा है। गीत के सर्जक इसी विघटित हो रहे समाज के सदस्य हैं। वे समाज में व्याप्त समस्याओं से, स्थितियों से एवं परिस्थितियों से रोज ही, दिन–प्रतिदिन दो–चार हो रहे हैं। कवि–हृदय को दो–चार होना एक बड़े परिवर्तन का संकेत माना जाता है। आनेवाला समय किस नये समय में परिवर्तित होने जा रहा है, यह तो समय बताएगा, पर गीत विधा समाज को किस नये ढाँचे में ले जाना चाहती है, यह डॉ. जयशंकर शुक्लजी के नवगीत संग्रह 'तम भाने लगा' को पढ़कर समझा जा सकता है।

डॉ. जयशंकर शुक्ल वर्तमान समय में एक सशक्त नवगीतकार हैं। वे समय–समाज में हो रहे तमाम परिवर्तनों के सीधे तौर पर प्रत्यक्ष गवाह हैं। इनके कवि–हृदय को समझने का प्रयास किया जाए, यह आसानी से समझा जा सकता है, उनकी चिंता मनुष्य को मनुष्य रूप में देखने की चिंता है। वे नहीं चाहते कि आदिम सभ्यता एवं संस्कारों से विमुक्त हो चुका मानव पुनः उसी सभ्यता एवं संस्कार का पोषक बने। दरअसल सभ्यता और संस्कार में जितने हद तक मानव–समाज अपने अतीत के दहलीज पर या यों कहें कि ड्योढ़ी पर कदम रखने के लिए लालायित हुआ है, उससे अधिक कविता भी उसी रूप के निकट पहुँचती जा रही है। दोनों को सँवारने और सुंदर रूप में यथावत् बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि स्वच्छंद प्रवृत्ति की तरफ बढ़ रही सामाजिक माँग को नियंत्रित किया जाए और इस प्रकार आदर्शों का सीमांकन किया जाए कि कविता का कवित्व भी बना रहे, नित–प्रतिदिन समृद्ध होता रहे, मानव की मानवीयता और उसका समाज भी। कवि का यह सुझाव कितना सार्थक हो सकता है, इस उद्देश्य में–

'घर के चौखट मौन हुए/ वातायन बोल रहे
दरवाजों से सांकल अपने/ रिश्ते तोल रहे
मुख्य द्वार की लाज/ सुरक्षित भीतों में है
आओ इनको समरूपी/ संसार दिखाएँ
बड़े–बड़े अनुबंधों में/ अब सुचिता नहीं रही
सौदागम के मन में/ कोई गुरुता नहीं रही
मूल्यों की है हार/ सिसकता जीतों में है...
लुप्त हो रही मानवता/ दानवता खूब बढ़ी
ज्यों कटते पेड़ों की/ पीड़ा सबने यहाँ पढ़ी
खो जाने की चिन्ता/ अब तो चीतों में है
अर्थ नहीं देता जीवन/ कमियाँ बतियाती हैं
छन्दहीन संबंधों में/ कविता सकुचाती है।'[2]

छन्दहीन हो जाना कविता की अभिव्यक्ति और सौंदर्य से हीन होना है। परिवार–विहीन होना मनुष्य के अस्तित्व और आधार से हीन होना है। दोनों में रागात्मक संबंधों का होना आवश्यक है। लय और सुर का सामंजस्य आवश्यक है। सामंजस्य से ही विकास की संभावना होती है। विकास उसी की होती है, जो सामंजस्यपूर्ण वातावरण में रहने का अभ्यास करता है। विडंबना की स्थिति ये है कि आज दोनों को, कविता और मनुष्य को, लय, सुर और सामंजस्य से दूर रखने की बात की जा रही है। अभ्यास करने की क्षमता से हम क्षीण हुए हैं। अभ्यास की क्षमता से क्षीण होना संवाद हीन होना है। संवादहीनता से जितने हद तक सामयिक मनुष्य विचलित हुआ है, उससे कहीं अधिक समसामयिक कविता के विभिन्न रूप भी। आज के इस विसंगतिपूर्ण वातावरण में इन दोनों को रूप एवं सौंदर्य प्रदान करनेवाले प्रतिमानों एवं संसाधनों को उसके विकास तत्त्व में बाधक स्वीकारा जा रहा है। पर क्या परंपरा और समाज से अलग–थलग होकर रहना किसी भी स्थिति में हमारे लिए हितकर है?आज के समय में सबसे बड़ी विसंगति इसी बात की है। नयी पीढ़ी पूर्ण स्वतंत्रता की चाह में स्वच्छंद हो जाना चाहती है। नयी कविता स्वच्छंद हुई है। आज वह स्वच्छंदता से भी स्वच्छंद होने की माँग कर रही है। परिणामतः एक पूरी की पूरी समृद्ध परंपरा का क्षरण हो रहा है। इसके आवरण में हमारे आचार, विचार एवं संस्कारों की परिभाषा बदलती जा रही है। यह एक और विडंबना की स्थिति है कि इस भयावह बदलाव की स्थिति में सिद्धस्थ कविगण मौन हैं। सत्य यह भी है कि परिवर्तन मनुष्य के हृदय पर सीधे चोट करते हैं। चोट लगने की स्थिति में व्यक्ति चिंतन के धरातल पर सक्रिय नहीं हो पाता, चिंताओं में मशगूल हो जाता है।–

'चाक पर चलते हुए
दो हाथ
हमसे पूछते हैं
अनगढ़ों के दौर में
कैसे
सृजन की बात संभव
चल रहे संबंध शर्तों पर
सतत अनुरागियों के
भ्रष्ट होते जा रहे आचार
अब वैरागियों के
द्वेष के साम्राज्य में
कैसे
मिलने की बात संभव।'[3]

'मिलन' और 'सृजन' मानवीय चेतना के दो मुख्य आयाम हैं। 'मिलन' में 'सृजन' की संभावना कम होती है। सृजन के माध्यम से मिलन के लिए प्रयास किया जा सकता है, लेकिन 'अनगढ़ों के दौर में' इस प्रयास की सार्थकता साकार रूप ले सके, यह कार्य कुछ असंभव तो नहीं, पर कठिन जरूर है। तीर सबके कमान में है। जो निपुण और दक्ष हैं, उनके भी और जो नवसिखिए हैं उनके भी। निशाने भरपूर लगाये जा रहे हैं। सवाल ये हैं कि निशानों की ये आजमाइश हो किसके लिए हो रहे हैं?वर्तमान सृजन की जो चिंता होनी चाहिए, जिसकी चिंता होनी चाहिए, वह इनके चिंतन–प्रक्रिया से बाहर है। तो क्या यह सही नहीं है कि जितने भी कविगण, साहित्यकार एवं साहित्य चिंतक हैं, वे कहीं न कहीं अनुबंधों के दायरे में बँधकर अपना सृजन कर्तव्य पूरा कर रहे हैं?जबकि एक सत्य यह भी है कि जिनके चिंतन और विचारों में ये क्षमता हैं, वे या तो चुप्पी मारकर बैठ गये हैं अथवा उन्हें कोई सुन नहीं रहा है। इस प्रसंग में महाकवि तुलसी की ये पंक्तियाँ बार–बार याद आती हैं–'तुलसी पावस के समय धरी काकुलनि मौन। अब तो दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहैं कौन।।' मेढकों के टर्रटोई में कोयलों की सरस आवाज कहाँ, किसके कान तक पहुँच पाती है और फिर जब स्वार्थता की स्थिति दोनों तरफ से बराबर की हो, फिर ऐसी बात करना तो दूर, इस बात की परिकल्पना भी निरर्थक है। 'मैं चुप रहता हूँ' सृजन के इन्हीं बुनियादी प्रश्नों की तहकीकात करती अभिव्यक्ति है–

सब कहते हैं–
कुछ तो बोलो
मैं चुप रहता हूँ....?
समझौतों की
परतें खोलो
मैं चुप रहता हूँ....।
कवियों की चौपालों में अब
गीत नहीं अनुबंध गूँजते
चमत्कार की प्रत्याशा में
ऊँचे स्वर में छन्द झूमते
वे छन्द कहें–/
कुछ नवता घोलो/
मैं चुप रहता हूँ
मंचों ने फूहड़ता ओढ़ी
दो अर्थी संवाद बढ़े हैं
इन्हीं पथों का आलंबन ले
कितनों ने अनुवाद गढ़े हैं
अनुवाद कहें–
मौलिकता को लो/
मैं चुप रहता हूँ।'[4]

नव्यता की चाह आज के रचनाकारों में कुछ अधिक शुमार है। जनवादी, प्रगतिवादी, प्रगतिशीलवादी कहने, कहलाने और बनने की चाह सबमें उपजी है। चाहत की अंधी दौड़ में सृजन धर्मिता कुंठित हुई है। कुंठा में सामाजिकता का निर्वाह होना कठिन होता है। यह प्रवृत्ति नया गुट बनाने के लिए तो सार्थक हो सकती है, पर सृजन–संवाद के लिए सर्वथा घातक होती है। शुक्लजी के यहाँ यह प्रवृत्ति नहीं है। यहाँ ईमानदारी है। गीत/नवनीत के कथ्य एवं शिल्प को यथार्थ के धरातल पर पिरोने के लिए सार्थक प्रयत्न किया गया है। मधुकर अष्ठाना जी के शब्दों में कहें तो 'नवगीत अपने समय के ज्वलंत प्रश्नों से जूझते हुए, भावानुकुल भाषा, शिल्प एवं कथ्य की नये रूप में तलाश करता है। इसमें रचनाकार की अंतश्चेतना सम–सामयिक संवेदना का विस्तार करती है और वर्तमान शोषण–उत्पीड़न, त्रासदी, विसंगति, विषमता, विघटन, विरूपता, विकृति, विवशता, मानवीय मूल्यों में ह्रास, सांस्कृतिक पतन आदि के मध्य आम–आदमी के जीवन संघर्ष को चित्रित कर चिंतन हेतु पाठक को अभिप्रेरणा प्रदान कर प्रतिरोध–प्रतिकार का संदेश देती है।[5] शुक्लजी का यह संग्रह इन सभी उपादानों से समाविष्ट है। इसमें सामाजिकता की भावना से इस तरह जुड़ाव हुआ है कि ऐसा प्रतीत होता है, हम नवगीत नहीं, वर्तमान समय को पढ़ रहे हैं, आज की विसंगतियों को देख रहे हैं, समकालीन जीवन और उसकी परिस्थिति को परख रहे हैं, समझ रहे हैं।'[6] आधुनिकता ने उत्तर आधुनिकता की तरफ कदम बढ़ाते हुए समाज के प्रमुख परिवर्तन इनके कवि हृदय से अभिव्यक्ति पाकर बहुत कुछ कहने और समझने के लिए प्रेरित करते हैं। यह इसलिए कि हम समय समाज में वर्तमान रहते हुए भी वर्तमान समय और समाज में नहीं हो पा रहे हैं। यह चिंता न तो आज के साहित्य में दिखाई दे रहा है और न ही तो समाज में रहनेवाले तथा सामाजिक परिवर्तन की पक्षधरता करनेवाले विशेष तथाकथित बुद्धिजीवियों में ही। जनसेवी और बुद्धिजीवियों की जितनी परिभाषाएँ कभी की जाती थीं, वे सब आज के इस समय में परिवर्तित हो चुकी हैं। व्यक्ति–सत्ता–समाज के मध्य जो रिश्ते एक आधार का कार्य करते थे, वे विघटित होकर वैयक्तिकता और लोलुपता की भेंट चढ़ गये हैं। समय–समाज में परिव्याप्त स्वार्थता की ऐसी दौड़ को शुक्लजी कितने सुंदर तरीके से अभिव्यक्त करते हैं। इस एक गीत में संपूर्ण समाज के दर्शन हो उठते हैं–

"स्वार्थी युग हो गया है/मर रही संवेदना
अब हलाकू घूमते हैं/मौत की टोली बना
हर तरफ संत्रास का/फैला हुआ है कोहरा
फूल लगते कागजी सब/ सब्जियों पर रंग हरा
सच अनावृत हो रहा है/झूठ की टोली बना
झुग्गियों में फैलती/आँचल पसारे क्रन्दना
मायावी दुनिया हुई/सब लुप्त होती भावना
सत्य भी मिलता कहीं पर/फूस की खोली बना
अस्पतालों में चिकित्सक/कर रहे व्यापार हैं
कैशलेस की ओट में/करते विविध व्यापार हैं

पीड़ितो से लूटते ये/द्रव्य को झोली बना
राजपथ अब हो गये हैं/मौत की खूनी डगर
जनपथों पर घूमती है/काल की पैनी नजर
दौड़ चूहों की निकलती/खून की होली मना।"[7]

सामयिक दृश्य हमारे समाज का यही है। डॉ. अजय पाठकजी की यह अभिव्यक्ति कितनी सच है–'आज हम जिस कालखंड में जी रहे हैं अथवा कहें कि जीने को मजबूर हैं, वह विखंडन का काल है। हमारी आस्थाओं पर लगातार प्रहार हो रहे हैं, विश्वास दरक रहा है, नैतिक और सामाजिक मूल्यों का सर्वनाश हो रहा है, परिवार टूट रहे हैं, मनुष्य मनुष्य से दूर होता जा रहा है। शोषण, पीड़ा, निराशा और कलह से त्रस्त आम आदमी को इस विपदा से उबरने का कोई विकल्प नहीं सूझ रहा, अंतहीन समस्याओं से घिरा मनुष्य आत्मघात कर रहा है, क्षणिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए अब आदमी एक दूसरे की जान लेने पर आमदा है। समस्याओं के इस मकड़जाल से बाहर निकलने का कोई रास्ता भी अब नहीं दिखता।'[8] सभ्यता और संस्कार के जो मापदंड कभी निर्धारित किये गये थे, आज उनकी कहीं कोई सुनवाई नहीं है। ये व्यापक बदलाव इसी समाज में हुए हैं। हम सबके देखते–देखते हुए हैं। मनुष्य हद से अधिक वैयक्तिक हुआ है। वैयक्तिता के आईने में सामूहिकता का अभाव खटकता तो दिखाई दे रहा है, पर वापसी की कहीं कोई गुंजाइश भी नहीं बची है। सभ्यता की अधिक ख्वाहिश ने हमें असभ्य तो बनाया है, इनकार इस बात से भी नहीं किया जा सकता है। हम अपनों से पराये हो चुके हैं। पराये हमारे अपने हो रहे हैं। जब दूसरों के प्रति हमारा आकर्षण बढ़ता है, यह सत्य है कि सही–गलत का निर्णय करने की स्थिति में हम नहीं होते। यह विसंगति नवांकुरों के लिए अधिक संकटमय है। वे अपने ही बनाये गये मार्ग पर न तो चल पा रहे हैं और न ही चल पानेवाले मार्गों का वरण करने की स्थिति में है। परिणाम साफ है कि–

नए पौध की बदचलनी
को बरगद झेल रहे।
स्वाभिमान कहकर घमंड को
ये इतराते हैं
परंपरा को भूल नए
अनुबंध बनाते हैं
अपने मन की करने में
होते बेमेल रहे...
सीख नहीं, इनको, मन
की करने की छूट मिले
मेल मिले अपने कामों में
या फिर फूट मिले
रहें अकेले खुश समाज
में ये तो फेल रहे।'[9]

बच्चे गलतियाँ पर गलतियाँ कर रहे हैं और झेल उसको माता–पिता रहे हैं। इन्हें अपनी गलतियाँ कभी गलती के रूप में दिखाई ही नहीं देतीं। समाज में इनका फेल होना इनके लिए सहज और सुंदर भविष्य का सृजन दिखाई दे रहा है। सृजन नकल में नहीं चिंतन में होता है। हमारे परिवेश में चिंतन की परंपरा पर पश्चिमी सभ्यता का आतंक मँडराने लगा है। हम सब उसके गिरफ्त में अब साँसें लेने को मजबूर हैं। शुक्लजी के 'बरगद' का झेलना परंपराओं के पोषक भारतीय मानस का झेलना है और 'नए पौध की बदचलनी' नवयुवकों/नवयुवतियों द्वारा अपनी परंपरा को तिलांजलि देते हुए पश्चिमी परंपरा को अपनाना है। लज्जाशीलता, मान–मर्यादा, शील–संकोच हमारी परंपरा की देन है। इनके प्रतिकूल जितने भी आचरण हैं, वे पश्चिमी सभ्यता की देन हैं। दूर के ढोल सुहावने होते हैं। असलियत उसके पास जाने के बाद ही पता चलती है। ढोल तक पहुँचकर लौटना हम अपनी तौहीनी भी समझते हैं और अपमान भी। उसको सुनना और झेलना हमारी मजबूरी बन जाती है, यही मजबूरी इस दूर की पश्चिमी सभ्यता के साथ है। आने को तो हम इसके पास आ ही गये। अब जब इसके प्रभाव से पाशुविकता का लिबास में हमारा कायांतरण होने लगा है, चिंता की लकीरें माथे पर साफ झलकने लगती हैं। शुक्लजी की चिंता कितनी प्रासंगिक, सामयिक और सार्थक है कायापलट हो रहे 'इस दौर में' समाज के प्रति–

सभ्यताएँ,
नग्न होती जा रहीं इस दौर में
आचरण,
खोया न जाने कब कहाँ किस शोर में,
पार्टियों में
मय थिरकता,
पश्चिमी संगीत में,
नृत्य करतीं युवतियाँ,
मदहोश होकर प्रीत में,
नशे के सौदागरों की
छवि न मिलती भोर में।'[10]

हवा कोई भी हो, मौसम की, समय की, अनगढ़ता और अराजकता को आमंत्रित करती है। इस हवा के झोंके में एक तरफ जहाँ कूड़े–कर्कट का जमावड़ा होता है, वहीं बड़े–बड़े वृक्ष, महल और अमूल्य इमारतों का ह्रास और क्षरण होता है। हालाँकि जो उस हवा के झोंकों को झेलता है, सहता है और किसी तरह बच भी जाता है, पर उस समय समाज में उपस्थित लोगों के मध्य उपेक्षा और कुदृष्टि का भाजन उसे होना जरूर पड़ता है। यही कुछ आज हमारे परिवेश में हो रहा है। इस देश की परंपरा और संस्कृति को बचानेवाले आज नवीनता के नामपर उपेक्षित हो रहे हैं। लोग उनके प्रतिमानों एवं आदर्शों के खिलाफ चलना अपना शौक और फैशन समझ बैठे हैं। दूसरों को मार्ग और दृष्टि प्रदान करनेवाली सभ्यता और संस्कृति इतिहास होती जा रही है और जो हमसे सीखे हमारा वर्तमान। इसमें बड़ी आश्चर्य की बात और क्या होगी कि–

पछुहाँ के आने से/पुरबा हैरान है/
सीमा पर सहमा–सा/ बैठा जवान है...।
लाजों के गहने अब/ बातें इतिहास की/
सबको ही छलती है। रातें उल्लास की
जो भी अभी घटता है/सब कुछ दिनमान है...।
पश्चिम के बसनों ने/पूरब को ताका है
अंग सभी उघरे हैं/सहमा हर नाका है/
अपनाए व्यसनों से/दुनिया हैरान है...।
उच्छृंखलता बनती/बाधक सम्मान में/
लाज को गँवा बैठे/अधुनातन शान में।
बदला कैसे जाए/रात तो बिहान है....।
मोबाईल बन आया/व्यक्ति का रहस्य अब
कीड़ा नित खाता है/जीवन की सस्य नव/

कहाँ तक चलेगा/यह डूबता विमान है... ।'[11]

आँधी और तूफान आने के बाद व्यक्ति अपने घर–परिवार एवं उपयोगी वस्तुओं को सँभालने के लिए प्रयासरत दिखाई देता है। वह अपने तमाम प्रवृत्तियों पर अंकुश भी लगाता है। यह इसलिए कि आँधियों का स्वभाव है उजाड़ मचाना, विध्वंस करना। मनुष्य का स्वभाव है निर्माण करना। वह अपने परिवेश में आँधियों का आगमन कभी नहीं चाहता। दूर की घटनाओं से इतनी तो समझ उसमें पैदा होती ही है कि आँधियाँ अव्यवस्थाओं को जन्म देती है। अव्यवस्थाएँ कभी भी व्यक्ति को व्यवस्थित नहीं रख पातीं। यहाँ भटकाव की संभावना बढ़ जाती हैं। भारतीय समाज में गाँव का महानगर के रूप में अनवरत परिवर्तित होते जाना यहाँ के निवासियों के लिए किसी तीव्रगामी तूफान से कम नहीं है। इस तूफान से बचना सभी चाह रहे हैं, पर सत्य यह है कि इसका झोंका सबके छान–छप्पड़ को झकझोर रहा है। ग्रामीण परिवेश को जो विविध उपागम रूप और सज्जा प्रदान करते थे, आँधी के बाद आये परिवर्तन के ढाँचे में वे भी ढल गये हैं। क्या गजब कहा है शुक्ल जी ने–

मुर्गे की अब बाँग कहाँ अब
जो बिस्तर से हमें उठाए
मंदिर में घंटी, अजान भी
नियत समय पर अब न जगाए
दूर कहीं शुकवा डूबा है
जिसकी अनुपस्थिति में अब तो
भोर रोशनी जगा रही है
काँव काँव की ध्वनि भूली अब
सूनी घर की मुँडेर हैं
चिड़ियों की कलरव भी गम है
डाली पर सूने डरे हैं।'[12]

शुक्लजी की चिंता स्वच्छ पर्यावरण और परिवेश में निवास करने की चाह में जीने की परिकल्पना संजोए प्रत्येक मानव मन की चिंता है। यह चिंता गीत या नवगीत विधा में ही संभव है। कविता की स्वच्छंद परंपरा उसे अभिव्यक्ति देने में नाकाम है। कविता की शुष्क एवं नीरस प्रकृति न तो पाठक को तृप्ति देने में सक्षम है और न ही तो उसके जीवनकाल में विद्यमान समस्याओं को लोगों तक पहुँचाने में ही। गीत विधा अपनी प्रकृति से ही मानव मन की विधा है। इसमें भावुकता है, बौद्धिकता नहीं। जहाँ भावुकता होती है, वहाँ अपनापन होता है। जहाँ बौद्धिकता होती है, वहाँ नीरसता होती है। भावुकता के आवरण में ही मनुष्यता की संभावना को जीवित रखने का उपक्रम किया जा सकता है। यह संभावना शुक्लजी के कवि–हृदय में बड़ी सिद्दत के साथ मौजूद है। जरूरत है उसे देखने, पढ़ने और समझने की। मुझे आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि पाठक–हृदय 'तम भाने लगा' को हृदयांकित करते हुए उजाले तरफ बढ़ने का प्रयत्न करेगा। संदर्भ–


1. शुक्ल, डॉ.जयशंकर, तम भाने लगा, दिल्ली, पूनम प्रकाशन, 2014–15, पृ. 13
2. वही, पृ. 31–32
3. वही, पृ. 37
4. वही, पृ. 85–86
5. अष्ठाना, मधुकर, हाशिए समय के, लखनऊ, उत्तरायण प्रकाशन, 2015, पृ0 10
6. अधीर, राम (सं.) संकल्प रथ (मासिक पत्रिका), अंक जून 2014, डॉ. अनिल कुमार का लेख, (मन–बंजारा : एक नई तजबीज) पृ. 13
7. शुक्ल, डॉ.जयशंकर, तम भाने लगा, दिल्ली, पूनम प्रकाशन, 2014–15, पृ.
8. पाठक, अजय, बोधिवृक्ष पर, दुर्ग (छत्तीसगढ़), श्रीप्रकाशन, 2011, पृ0 5–6
9. वही, पृ0 134
10. वही, पृ. 97–98
12. वही, पृ. 35–36


कविता

# दर्द

संयुक्ता गुप्ता
भागलपुर

जब
याद करती हूँ
सफेद कागज सा
अपने वजूद को
तो हिल जाता है
पन्नों की फड़फड़ाहट सा
सम्पूर्ण अस्तित्व
उबाल कर रख देता है
मेरी नर्म संवेदनाओं को
निचोड़ दिया जाता है
संबंधों की दुहाई से
कसमसा उठती है...
चरमरा जाती है
डाल से टूटी पत्तियों की तरह
और बह जाती है
तरंगों में आत्ममूल्य
रह जाता है
बस, – दर्द!

रिपोर्ताज

# धर्मं शरणं न गच्छामि

मनोरंजन सहाय सक्सेना,
जयपुर, राजस्थान,
9351288071

अभी रात के नौ बजे थे। मगर रात कहीं ज्यादा गहरी और भयावह लग रही थी। पर्वतीय प्रदेश के बारे में छात्रावास में संस्कृत में पढ़ी एक सूक्ति आज बार–बार याद आ रही थी– 'दूरतः पर्वतः रम्यः।' पर्वत दूर से ही सुहावने लगते हैं। खास तौर से जब आपका मन किसी आसन्न संकट से त्रस्त हो। इसीलिए मुझे लग रहा था कि रात बहुत अंधकारमयी और भयावह है।

उत्तराखंड की यात्रा का आज पाँचवाँ दिन था। जमुनोत्री की यात्रा में लौटते समय ढलान पर उतरते हुए टट्टू की पीठ पर बैठने के आसन में जो परेशानी हुई थी, उसे भोगते हुए पत्नी ने केदारनाथ की यात्रा पर रवाना होने से पहले ही घोषणा कर दी थी कि टट्टू केवल केदारनाथ धाम जाने के लिए चढ़ाई पार करने के लिए ही करेंगे, लौटते समय पैदल लौटेंगे। मैं तो संपूर्ण यात्रा पैदल करना ही पसंद करता, मगर पत्नी के स्वास्थ्य और थोड़ी स्थूल काया के कारण उनका प्रस्ताव ही मानना पड़ा।

केदारनाथ के दर्शन–पूजन कर लौटते हुए जब हम इस मध्यवर्ती गाँव रामटेकरी में पहुँचे तो रात होने लगी थी। गौरीकुंड यहाँ से लगभग १० किलोमीटर है, अतः रात्रि विश्राम करना यहीं ठीक लगा। गाँव में बिजली की अव्यवस्था की कहानी के बीच गढ़वाल विकास मंडल के जेनरेटर की बिजली से जगमगाता विश्रामगृह का आमंत्रण अधिक लुभावना था, इसलिए मैं फौरन जा पहुँचा और सौभाग्य से दूसरे कमरे के लिए सबसे पहले पहुँचनेवाला मैं ही था, नहीं तो एक कमरा पहले ही बुक था और यहाँ दो ही कमरे हैं, जो सरकारों की जनसुविधा के कामों में ऊँट के मुँह में जीरा की कहावत को मुखर चरितार्थ कर रहे थे।

विश्रामगृह में पहुँचते–पहुँचते मौसम काफी सुहावना था। आकाश में रूई जैसे रजतवर्णी कुछ बादल के टुकड़े तेजी से भागते हुए लग रहे थे और चन्द्रमा उनके साथ एक शैतान बच्चे की तरह आँख मिचौली खेलता लग रहा था। विश्रामगृह के पीछे की तरफ पहाड़िया थी और उच्छृंखल युवा अलकनंदा के प्रवाह का भीषण, मगर मस्त–सा शोर।

देखते–देखते आकाश का रंग बदलने लगे। रजतवर्णी बादलों की जगह काले बादलों ने ले लिया, बिजली लपलपाने लगी। तेज हवा चलने लगी, तो विश्रामगृह के मैनेजर जल्दी भोजन कर लने का निर्देश देने आये, तब मैंने पत्नी की ओर देखा। वह बिस्तर पर बिल्कुल निढाल पड़ी हुई थी। मैंने उन्हें दो–तीन आवाज दी, मगर उन्होंने उत्तर नहीं दिया, तो उन्हें उठाने के लिए उनका हाथ पकड़कर उठाने की कोशिश की, मगर वह तो एकदम लुढ़क ही गयी, तो मुझे चिंता हुई। उन्हें डायबिटीज है, मगर यहाँ आने के बाद पर्वतीय सौंदर्य को एन्ज्वाय करने में वह ऐसी मस्त हो गयी है कि ग्लूकोज का लेबल नियंत्रित रखने के लिए खाना खाने से पहले लेनेवाली गोलियाँ और अन्य सहायक दवाइयाँ लेना ही बंद कर दिया। केदारनाथ से वापस चलते हुए मैंने उन्हें बिस्कुट और शीतल पेय खरीद कर दिया था और कहा था, इन्हें हर एक–दो किलोमीटर चलने के बाद थोड़ा–थोड़ा लेती रहें। मगर वह पर्वतीय झरनों का निषिद्ध (जो संभवतः बोतलबंद मिनरल वाटर की बिक्री को प्रोत्साहित करने के लिए ही निषिद्ध घोषित किया था) जल पीकर इस तरह तृप्त होती रही कि उन्होंने न तो बिस्कुट खाये, न शीतल पेय लिये और लगभग दस किलोमीटर पैदल चलने के कारण उनके रक्त में ग्लूकोज लेबल इतना कम हो गया कि लग रहा था कि वह मधुमेह की खतरनाक बेहोशी में न चली जावे।

मैंने मैनेजर से संपर्क किया, तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उन्हें खेद है कि इस मौसम में वह कोई चिकित्सकीय मदद उपलब्ध नहीं करा सकते। एक तो इस गाँव में तो कोई डॉक्टर है नहीं, गौरीकुंड यहाँ से दस किलोमीटर है और इस तरह की जोरदार वर्षा में एक तो पहाड़ी रास्ता वैसे भी खतरनाक हो जाता है, दूसरे बिजली की कड़क के साथ बिजली गिरने की आशंका से यहाँ कोई घर से बाहर नहीं निकलता है, अतः जल्दी से जल्दी चिकित्सकीय सहायता सुबह १०–११ बजे से पहले नहीं मिल सकेगी, वह भी अगर मौसम ठीक हो गया तो।

उन्होंने केवल इतनी मदद जरूर की रात को कमरे और बरामदे की लाइट जलाकर रखने की अनुमति दे दी और आधा लीटर दूध मुहैया करा दियां मैं बेसुध पत्नी के भिच गये दाँतों के बीच चम्मच फँसाकर दूध पिलाने की कोशिश कर रहा था, मगर उनकी बेहोशी के कारण अब सहारा देकर बिठाने की व्यवस्था बन नहीं पा रही थी। अपनी विवशता के कारण एक दफा तो मैं बेसुध पत्नी पर ही बरस पड़ा, फिर बेबसी के पछतावे के कारण आवाज रुँध गयी और आँखों में आँसू आ गये।

तभी बिजली कड़की और दरवाजे पर थाप पड़ी। पहले तो मैंने सोचा हवा से दरवाजा खड़क रहा है, मगर जब थाप दुबारा लगातार पड़ी तो दरवाजा खोला, तब मैं एकदम चौंक गया। इस तूफानी रात में इस पर्वतीय प्रदेश में यह स्त्री... मगर अबतक वह भारतीय महिला की प्रकृतिप्रदत्त करुणा ने स्वयं विगलित हो गयी थी, अतः उन्हीं का स्वर फूटा, 'देखिये, मैनेजर ने जो कहा है, ठीक कहा है। मगर उसकी बात से परेशान होकर घबराने से इस समय कुछ नहीं होगा। आप बताइये इन्हें क्या हुआ है?अब मैंने उनकी तरफ गौर से देखा। वह छरहरे बदन की एक मध्यम कद–काठी की गौरवर्ण महिला थी। उम्र ४०–४५ साल के आसपास रही होगी। 'यह बेहोश हो गयी है।' मैंने निराशा से डूबे स्वर में कहा।

'इन्हें डायबिटीज भी है?'

'हाँ।'

'चलिये, इन्हें गर्म दूध पिलाते हैं।'

'बेहोशी के कारण इनके जबड़े भिंचकर जमे हुए हैं।' तभी तो कह रही हूँ, चलिये इन्हें दूध पिलाते हैं। मतलब मिलकर कोशिश करते हैं। इतना कहकर वह हल्के से मुस्कुराई। उनकी मुस्कुराहट से लगा कि कितनी भी मुश्किल घड़ी में एक महिला की एक मंद मुस्कान से सारी समस्याएँ हल हो गयी प्रतीत होने लगती है और हुआ भी कुछ ऐसा ही। उन्होंने मुझे अब भी असमंजस में देखकर पलंग पर बैठकर पत्नी का सिर अपनी गोद में ले लिया और ट्रे में से एक चम्मच उठाकर उसकी डंडी पत्नी के सख्त हो गये जबड़ों में फँसाकर दूसरे चम्मच से उनके मुँह में दूध डालना शुरू कर दिया।

वह चम्मच से दूध डालती और फिर दो–तीन सेकेंड के लिए उनकी नाक बंद कर देती। इस तरह कई लगभग आधा घंटा के प्रयत्न में उन्होंने एक पूरा प्याला दूध बेसुध पत्नी के गले से नीचे उतार दिया और बड़े धीरे से मुँह में फँसाई हुई चम्मच निकाल कर रख दी, फिर किंचित् व्यंग्य

मिश्रित मधुर उलाहने के साथ बोली, 'आप इनके तलवों की मालिश करेंगे।'

'हाँ, हाँ, क्यों नहीं।

'पुरुषों को ऐसा करना कुछ सहज नहीं लगता। खासकर किसी अन्य औरत की मौजूदगी में है ना! मगर मैं इनको इस तरह लेकर बैठी हूँ, आप शायद घुटना मोड़कर पालथी लगाकर बैठ नहीं पाते हैं। आप कुर्सी लगाकर, बैठकर उनके पैरों को सहलाकर गर्म करते रहें। मुझे उनकी वाणी का व्यंग्य थोड़ा अखर रहा था, मगर इस समय तो वह देवदूत थी। मैं चुपचाप कुर्सी खिसकाकर पत्नी के तलवों की मालिश करने लगा। वह पत्नी के हाथ, सीना, माथा लगातार अपने हाथों से रगड़ रही थी और बीच–बीच में पत्नी के मुँह पर अपना मुँह लगाकर शायद उसे ऑक्सीजन भी दे रही थीं

लगभग तीन घंटे गुजर गये। बाहर बिजली कड़की और पत्नी ने थोड़ा चौककर धीमे से स्वर में कहा–'अरे, क्या हुआ रे?' तो वह प्रसन्नता से बोली–'चलो, खतरा टल गया।' मैंने उनकी ओर कृतज्ञता से देखकर कहा–'मैं थैंक्स कहकर आपकी सहायता और सदाशयता की तौहीन नहीं करूँगा, मगर यह याद रखूँगा कि.... कहते–कहते मेरी आवाज रुँध गयी और पता नहीं क्यों, एक आसन्न संकट टल जाने की सान्त्वना पाकर आँसू छलक पड़े।'

'अरे, आप तो भावुक हो गये, मगर आप परेशान न हों। मैं अभी आप दोनों को इस हालत में छोड़कर जा नहीं रही। हाँ, आपसे यह जरूर कहूँगी कि आप कुछ खा–पी लें। वैसे आपके पास बिस्किट्स वगैरह है, मगर संकोच न करें, तो मेरे कमरे में भी साइड टेबिल पर बिस्किट्स का पैकेट पड़ा है, आप ले लें, नहीं तो दो–दो रोगियों की सँभाल नहीं हो सकेगी। फिर थोड़ा रुककर बोली–'आप मेरी बात का बुरा मान गये शायद।'

'नहीं, बेटी! तुम्हारी बात में बुरा मानने जैसा तो कुछ भी नहीं है।' तुम्हारा निश्चल और आकस्मिक स्नेह ने भावुक जरूर कर दिया है, मगर तुम्हें कहते हुए मैं अचानक यह कहकर चुप हो गया कि बिना किसी घनिष्ठता के आपसे तुम पर कैसे उतर आया, क्या सोचेगी यह भद्र महिला मेरे बारे में। मगर उन्होंने मुझे फिर असमंजस से उबार लिया और बोली–'मुझे बड़ा अच्छा लगा कि आपने तो मुझे तुम कहा। बहुत दिन हो गये, ऐसा स्नेहपूर्ण संबोधन सुने, दिनभर हर जगह हर समय आप–आप का बिल्कुल औपचारिक संबोधन सुनते–सुनते कान पक जाते हैं। मैं आपको बता दूँ कि आपकी पत्नी और मैंने लगभग आधा से ज्यादा रास्ता साथ–साथ तय किया है। आपकी चाल तेज है। आपकी पत्नी एक तो आपकी अपेक्षा धीरे चलती है, दूसरे वह किसी भी प्राकृतिक सौंदर्य के दृश्य को देखकर बालसुलभ उत्सुकता से उसे एन्ज्वाय करने लगती थी और मुझसे उसके बारे में बातें करने लगती थी, इस वजह से आपसे काफी पीछे रह जाती थी, फिर आप जब किसी मोड़ पर रुककर अपनी पत्नी की प्रतीक्षा करते खड़े मिलते थे या इन्हें देखकर वापस चढ़ाई चढ़कर उनको देखने आते तो आपलोगों को आयुजन्य प्रेम देखकर मेरे अंदर कुछ पिघलने लगता था, कहते–कहते उसका स्वर आर्द्र हो गया।

'मैंने थर्मस में से पानी निकालकर उन्हें दिया।' वह स्थिर हो गयी, फिर जैसे कुछ झेंप–सी गयी।

दु:ख हमें जोड़ता है, इसी शाश्वत सत्य के कारण पिछले तीन चार घंटे में ही मैं इस महिला के साथ एक आत्मीयता अनुभव करने लगा था। इसलिए आत्मीयता से बोला–'देखो, मैंने अभी तक तुम्हारा नाम नहीं जाना है, मगर मेरी उम्र पैंसठ साल है और यह भी तिरसठ साल की है। इसलिए आयु के आधार पर मैं तुम्हें बेटी कहकर बुलाना चाहता हूँ। वैसे हमारी बड़ी बेटी होती तो तुम्हारी ही उम्र की होती, कहते–कहते दिवंगत पुत्री की याद में मैं भावुक हो गया, लो लगभग चार दशक पहले मेरी सरकारी नौकरी में दूरस्थ दुर्गम स्थान में पदस्थापन के कारण उचित चिकित्सा सुविधा के अभाव में केवल तीन दिन के बुखार में चल बसी थी।

वह थोड़ी देर यों ही चुप बैठी रही। अब तक शायद पत्नी को काफी राहत मिल चुकी थी और उनकी चेतना भी सामान्य हो रही थी, सो उन्होंने करवट बदली। उन्होंने पत्नी को बड़ी सँभाल के साथ अपनी गोद से उतारकर तकिये का सहारा दिया, फिर अपने कपड़े ठीक करते हुए उठी और कुर्सी खींचकर बैठ गयी और शायद संवाद स्थापित करने के लिए ही बोली–'वारिश जम गयी है, बर्फ भी पड़ सकती है। आज सुबह तो क्या दोपहर तक भी रवानगी हो जाए तो शाम को गौरीकुंड पहुँच जाएँगे।'

'क्या तुम अक्सर आती रहती है?'

'हाँ, सात–आठ साल से तो लगातार आ रही हूँ, मगर मैं धार्मिक बिल्कुल नहीं हूँ।' अंतिम शब्द बोलते हुए उनका स्वर काफी तिक्त हो गया, तो मैं असमंजस में पड़ गया कि बातचीत कैसे जारी रखी जाए। थोड़ी देर हमारे बीच खामोशी छायी रही, फिर मैंने थोड़ा साहस जुटाकर कहा–'तुमने कहा कि तुम इस धार्मिक यात्रा पर नियमित आती रही, फिर भी धार्मिक नहीं हो तो....'

'बस ऐसे ही।' उन्होंने शायद बात को सही समाप्त करने के लिए एकदम बोल दिया।

'देखो बेटी! इस दुनिया में कोई भी काम ऐसे ही नहीं होता, खास तौर पर यह कहनेवाला व्यक्ति तुम्हारी तरह काफी पढ़ा–लिखा हो, फिर तुम धार्मिक प्रदेश की यात्रा पर पिछले कई सालों से निरंतर आने की बात कहकर यों ही आते रहने का औचित्य तो नहीं सिद्ध कर सकती। पर्यटन की दृष्टि से भी कोई एक स्थान पर बारबार नहीं आता, तब 'मैं धार्मिक बिल्कुल नहीं हूँ' कहकर क्या इसे भी एक अंधविश्वास सिद्ध करना चाहती हो।' मैंने स्वर को यथासंभव संयत रखते हुए कहा।

'धर्म क्या है?इसकी सम्यक् परिभाषा तो धार्मिक विद्वान ही कर सकते हैं, मगर मैं तो धर्म को अपने जीवन का अनुशासित करने का जरिया भर मानने तक ही सीमित थी। मगर जीवन में धर्म के कारण ही घटी कुछ घटनाओं को भोगते, देखते और समझते विश्वास होन लगा। कार्लमार्क्स ने ठीक ही कहा था कि धर्म का नशा अफीम के नशे से घातक होता है, तो अब मन धर्म को जीवन के अनुशासन का जरिया भी मानने को कतई तैयार नहीं होता। मादक पदार्थ तो उसे सेवन करनेवाले को बहकाता है, उसके कदमों की दृढ़ता को लड़खड़ाहट में बदल देता है, वह व्यक्ति को अनुशासित कैसे कर सकता है और इस लड़खड़ाहट का फायदा स्वयं को कभी संन्यासी, तो कभी ब्रह्मचारी घोषित करनेवाले घर–परिवार के उत्तरदायित्व से मुक्त और पूरी तरह अनभिज्ञ धर्म का व्यवसाय करनेवाले व्यवसायी लोग 5 माह के अबोध बालक को सुशिक्षित माता–पिता को गोद देने के नाम पर आजीवन सौंपने के लिए तैयार कर लेते हैं और उन्हें इस धर्म के नशे की ऐसी खुराक देते हैं कि इस अबोध बालक के यह सुशिक्षित माता–पिता अपने माँ–बाप की भी नहीं सुनते और न्यायालय में बालक को जन्म देनेवाली माँ बड़ी सहजता और शान से स्वीकार करती है कि वह और उसका पति दोनों उच्च शिक्षित है, इसलिए बिना किसी के दबाव या उकसावे के बच्चे की भलाई के लिए उसे उस तथाकथित साधु को गोद दे रहे हैं। अब आप ही बताइये, यह उच्च शिक्षित माता–पिता यह जघन्य अपराध धर्म रूपी अफीम के नशे में ही कर

रहे हैं ना! शायद इस नशे में उन्हें यह ज्ञान अवश्य दे दिया है कि बच्चे के भावी हित के नाम पर बच्चे के वर्तमान और भविष्य की बलि देकर वह अपना भविष्य अवश्य बना रहे हैं।'

इतना बोलते हुए वह काफी उत्तेजित हो गयी थी, इसलिए थोड़ा रुकी तो मैंने प्रश्न किया–'मैं मानता हूँ कि माँ–बाप का उस अबोध शिशु के प्रति आचरण न तो सामान्य है, न सामाजिक मगर उसमें उनका भविष्य कैसे बनता है...।

मेरी बात पूरी होने के पहले ही वह मेरी बात काटकर बोली–'धर्मरूपी घातक मादक द्रव्य के नशे में कुछ प्रायोजित अन्य सेवनकर्ता इस बालक के माता–पिता को महान् धार्मिक बताकर उनकी चरण–वंदना करने लगेंगे। उनकी देखा देखी कुछ लोग और इस नशे में झूमने के कार्यक्रम में शामिल होते जाएँगे, तो पहले इन तथाकथित भक्तों के भक्ति कार्यक्रम के लिए इन धर्मावतार बन गये सामान्य से शिशुहन्ता माता–पिता के घर में ही मंदिर बनेगा, फिर धर्म के नशे के प्रचार–प्रसार के साथ उसके सेवकों की संख्या बढ़ने पर कलियुग के इस दशम अवतार के मंदिर की स्थापना की माँग होने लगेगी और हमारी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष सरकार जिसे किसी स्कूल या अन्य सामाजिक काम के लिए जमीन की व्यवस्था करने में दशकों का समय लग जाता है, तुरंत मन्दिर निर्माण के लिए कोई बेहद सुविधाजनक स्थान का बेशकीमती विशाल भूखंड नाममात्र की राशि राजस्व शुल्क के रूप में लेकर इस मंदिर के निर्माण के लिए स्वीकृत कर देगी और फिर वहाँ भव्य मंदिर बनेगा, पूजा–आरती होगी और चढ़ावा आवेगा, अब चढ़ावे का हिसाब कौन पूछ सकता है। अगर किसी ईमानदार अधिकारी ने ऐसा दुस्साहस किया तो इस नये पंथ के अवतार के अनुयायी उसे वही सबक सिखा देंगे–'जो संभोग से समाधि सिद्धांत के समर्थक एक धर्मगुरु इसका प्रचार और प्रयोग अपनी नवयुवा किन्तु अवयस्क कन्याओं के साथ करते हुए पाये जाने के कारण आज कारागार में होते हुए उन्हें इस यौनिक बलात्कार की सजा दिलाने के लिए बोल रहे कुछ साहसिक व्यक्तियों को सांसारिक मोह माया से सदा–सदा के लिए मुक्ति दिलाकर कर रहे हैं। तब आज के यह सामान्य से अज्ञात से माता–पिता विशाल धन–संपत्ति और वैभव सम्पन्नता के कारण स्वयं एक अवतार बन जाएँगे।

आपको मालूम होगा कि साठ के दशक के आरंभ में नये अवतार की प्रचलित हुई कहानी जिसे स्वयं उसी के प्रारंभिक अनुयायी ही उसे एक ऐसा फकीर बताते हैं, जिसने न कभी घुटने के नीचे धोती पहनी, न कभी स्वादिष्ट पकवान खाये, मगर आज उसके अनुयायी उसके लिए 60 किलो सोने का सिंहासन बनाने को तत्पर है और ऐसा नहीं हो पाने पर उसके संपूर्ण मंदिर और उसके परिसर में स्थापित अन्य मंदिरों के भवनों पर सोने की पालिश करा रहे हैं। इन भक्तों ने क्या कभी यह सोचने की जहमत उठायी कि सोने के आयात में देश को विदेशी मुद्रा खर्च करनी पड़ती है, जिसका असर आम आदमी के दैनिक जीवन पर पड़ता है और उसे दाल–रोटी जुटाने में भी तकलीफ होती है और इस महान् साधु के भव्य मंदिर के आसपास के क्षेत्रों में ही कई सालों की अनावृष्टि के कारण हर साल फसल बरबाद होने से किसान आत्महत्या करके अपनी जीवनलीला समाप्त करने को अभिशप्त क्यों है?उस फकीर के जिस पूरा जीवन बेहद सादगी से जीते हुए अपना तन और मन (धन तो सच्चे फकीरों के पास होता ही नहीं है) परोपकार और मानव के कल्याण के लिए समर्पित कर दिया, उसके मंदिर पर सोना चढ़ाने के काम में खर्च होनेवाली रकम से आसपास के उन कुछ गाँवों में जहाँ फसलों के बरबाद होने से, कर्ज के बोझ से टूटकर आत्महत्या करनेवाले किसान के भूखों मर रहे कुछ परिवारों की तात्कालिक सहायता इससे अधिक पुण्य का काम होता। मगर यह समाजोपयोगी और परोपकारी कार्य किसी भक्त के दिमाग में नहीं आता; क्योंकि अंधभक्ति का नशा सिर्फ अपनी समृद्धता की शान दिखाकर उन तमाम तथाकथित भक्तों में अपना रुतबा कायम करना होता है, जो इस धर्म के नशे के हमप्याला हमनिवाला होते हैं।

प्राचीन मंदिरों में हजारों टन सोना में जंग खा रहा है, उसकी सुरक्षा में लगे सुरक्षाकर्मियों के कारण भी आम आदमी को सुरक्षा का अभाव का एक कारण बन रहा है। मगर छद्म धर्म निरपेक्ष सरकारें पिछले छह दशकों में इन मंदिरों में पड़े सोने को सार्वजनिक हित में उपयोग के बारे में विचार भी नहीं कर सकी; क्योंकि ऐसा विचार आते ही धर्म के साथ स्वर्ण के नशे में मदहोश भक्तों की शक्ति जाग जाएगी और वह ऐसा विचार करने वाली सरकारों को ही ठिकाने लगा देंगी।

मंदिरों में घंटे लगाने और बजाने का सामाजिक ऐतिहासिक कारण रहा है। प्राचीनकाल में जब जनसंचार के सुविधासम्पन्न आधुनिक साधन उपलब्ध नहीं थे, तब किसी आपदा के समय या सार्वजनिक सूचना के प्रसारण के लिए लोगों को एक सार्वजनिक स्थान (जो उस समय किसी देवता का मंदिर या स्थान ही होता था) पर एकत्रित करने के लिए वहाँ लगे घंटे को बजाकर लोगों को एकत्रित होने की सूचना देने के लिए बजाया जाता था। मगर आज साधन–सम्पन्न सूचना साधनों के युग में भी मंदिरों में प्रवेश द्वार पर घंटा अवश्य होता है और प्रवेशकर्ता मंदिर में प्रवेश करते ही अपनी शक्ति के अनुसार उसे पूरे जोर से बजाकर देवता को अपने प्रवेश की सूचना देना अपना कर्तव्य समझता है, भले ही उसके पास खड़े व्यक्ति के कान का पर्दा ही क्षतिग्रस्त क्यों न हो जावे। इतना कहकर वह मानों थककर थोड़ा मौन हो गयी।

थोड़ी देर हमारे बीच मौन पसरा रहा। फिर वह स्वगत कथन की तरह बोली–'मैं आपकी या किसी की भी भावनाओं को ठेस पहुँचाना नहीं चाहती, मगर हमारे समाज में इस धर्म–नशे के प्रभाव ने ही मुझे एकांकी अभिशप्त जीवन जीने को मजबूर किया है। इसलिए धर्म को किसी भी व्यक्ति का वह व्यक्तिगत विचार ही मानती हूँ, जिसमें तर्क की कोई गुंजाइश होती ही नहीं है। एक प्रशिक्षित फौजी की तरह व्यक्ति फर्स्ट फॉलो को पूरी तरह स्वीकार कर लेने का आदी हो जाता है, यही धर्म है उस व्यक्ति के लिए।' कहकर वह एकदम मौन हो गयी, मानो अतीत में खो गई हो। थोड़ी देर हो गयी तो मैंने मौन भंग किया–'मगर इससे तुम्हारा इस धर्मप्रदेश की यात्रा में नियमित रूप से आना तो प्रमाणित नहीं होता।'

मेरी बात सुनकर वह बोली, मैंने केवल यह कहा कि धार्मिक उद्देश्य से नहीं आती, यह तो नहीं कहा कि यों ही बिना किसी उद्देश्य के चली आती हूँ। मेरे आने का भी कारण है, जिसकी लंबी कहानी है। अगर आप सुन सकें, तो सुना सकती हूँ और सुनाना भी इसलिए चाहती हूँ कि आप मेरी बात समझ सकें और हो सके तो धर्म की कोई सम्यक् परिभाषा गढ़ सके।' कहते हुए वह बेहद उत्तेजना के कारण लगभग हाँफने ही लगी थी, इसलिए थर्मस में से निकालकर थोड़ा पानी पिया। फिर स्वगत कथन की तरह शून्य में देखते हुए बोली–लगभग बीस साल हो चले इस बात को, तब मेरी उम्र 22–23 साल की थी, सम्पन्न सुशिक्षित परिवार की दो संतानों में बड़ी संतान। एक पुत्री–पुत्र से सीमित परिवार। किसी चीज की कमी नहीं थी। अच्छे स्कूलों में शिक्षा हुई। एम.एससी. करके रिसर्च कर रही थी। एक साल रिसर्च में

साथ–साथ काम करते–करते कब सुजीत और हम एक दूसरे को भावनात्मक रूप से चाहने लगे, पता नहीं चला। दोनों परिवारों की समझदारी से चाहत की सुखद परिणति विवाह में मे हो गयी।

दो साल तक रिसर्च में बीत गये, पर उसके बाद सुजीत की माँ की तीसरी बहू के पोते खेलाने की इच्छा जोर मारने लगी और वह एक साल बीतते मुझे भी माँ बनने की चाहत पैदा होने लगी, मगर जब एक साल और बीत जाने पर भी मैं माँ नहीं बनी तेा मुझे भी कुछ स्त्री सुलभ आशंकाएँ घेरने लगीं। इसलिए एक बार मैं जब मायके गयी, तो मैंने अपनी कॉलेजमेट रही डॉक्टर से अपना चेकअप कराया। उसने कुछ टेस्ट कराये और टेस्ट के रिपोर्ट्स देखकर बोली–'इनफरटिलिटी के केस में जबतक पति पत्नी दोनों का चेकअप साथ–साथ नहीं हो तो कोई राय अंतिम नहीं होती, फिर भी तुम्हारे माँ बनने में कोई कमी नहीं है।

मैंने लौटकर यह बात सुजीत को बतायी, तो पहले वह टाल गये। फिर बार–बार कहने पर एक दफा अनमने मन से चेकअप कराने को तैयार हो गये। डॉक्टर उनके सीमन में मोम्पायल स्पर्म्स की कमी बतायी तो एक विज्ञान का शोधार्थी होते हुए भी पौरुषजन्य अभिमान में उसे अवहेलना पूर्ण हँसी में उड़ा दिया।

उधर मेरी सास ने सुशिक्षित होते हुए भी अपने पुत्र के संतानोत्पत्ति की असमर्थता को समझने की कोशिश नहीं करते हुए, डॉक्टरी सलाह मानने की बजाय पूजा–पाठ, मंत्र–तंत्र, झाड़–फूँक का सहारा लेने लगी। आरंभ में मैं इन सबसे असहमत होते हुए भी उनके इस काम में मेरी सहभागिता को इसलिए निभाती रही कि सारे कर्मकांड अपनी बुद्धि से उनके अनुसार ही निर्वाह करवा लेती थी। मगर उस दफा जो हुआ, उसे कैसे कहूँ?कहकर मौन हो गयी। थोड़ी देर स्तब्धता रही, फिर वह बोली–मगर उसे बताये बिना यह कहानी पूरी होगी ही नहीं और न यह पता चलेगा कि मेरी धर्म से वितृष्णा का कारण, धर्म के नाम पर धर्म के व्यवसायियों द्वारा व्यावसायिक रूप से पारिवारिक सहमति से युवतियों का शारीरिक शोषण का मेरा आँखों देखा वह वीभत्स अनुभव शामिल है, जिससे मैं धर्म में प्रशिक्षित फौजी की तरह समर्पित नहीं होने के कारण ही बाल–बाल बच सकी।

फिर उन्होंने थोड़ा संकोच के साथ बोलना शुरू किया– अपने पूजा–पाठ, तंत्र–मंत्र, गंडे–ताबीज के अभियानों की असफलता से सास जी निराश होने लगी थी, इसलिए उन्होंने वह रामवाण नुस्खा अपनाया, जिसके अपनाने के बाद ही उनकी स्वयं की पुत्री को विवाह के पाँच वर्ष बाद संतान सुख प्राप्त होने के कारण उसका घर–संसार उजड़ते–उजड़ते बचा था और उसी पथ पर चलने से उनकी बड़ी बहू की गोद भरी थी।

इस धार्मिक अनुष्ठान के बारे में मेरी सासुजी ने बताया कि परिवार द्वारा उस धार्मिकस्थल पर जाने को निर्णय लेने के बाद एक माह पहले की पूर्णिमा को परिवार के किसी सदस्य को उस धार्मिक स्थल पर लाल कनेर के फूल अर्पित करने होते हैं। हजारों की संख्या में चढ़ाये गये फूलों के दोनों (पत्तों का बना कटोरेनुमा पात्र) में से केवल कुछ भक्त का ही दोना स्वीकार होता है, शेष का दोना देवता के चरणों में रखते समय उसके स्थिर नहीं रह पाने के कारण उसे अस्वीकृत मानकर भक्त को देवता की अस्वीकृति की सूचना दे दी जाती है, जिसे भक्त अपना दुर्भाग्य मानकर स्वीकार कर लेता है।

यह स्वीकृत दोनों जातकों में से अगली पूर्णिमा के लिए देवता की सेवा में हाजिर होने की अनुमति केवल 15 भाग्यशाली आशार्थियों को ही मिलती है। शेष को अगली पूर्णिमाओं के लिए प्रतीक्षासूची में रख दिया जाता है। इस बीच स्त्री की रजोनिवृत्ति आवश्यक होती है। पूर्णिमा को उस स्त्री को व्रत रखना होता है और उसका समापन रात को देवता के शयन आरती के बाद मिले खीर के प्रसाद से करना होता है। इसके बाद चयनित 15 आशार्थियों को सभी भक्तजनों की उपस्थिति में एक बड़े हॉल– जिसमें 15 मंडपनुमा केविन कदली तनों तथा दीर्घाकार पत्तों के देवोपम सौंदर्य से निर्मित और सुसज्जित होते हैं, में भेजकर दरवाजे पर ताला लगाकर चाबी किसी भी आशार्थिनी के परिवार के मुखिया को दे दी जाती है। यह बातें सामान्य रूप से बताते हुए सासुजी ने बड़े गर्व से और काफी जोर देकर बतायी कि इस समय बड़े महन्तजी सभी को स्पष्ट रूप से बताते हैं कि आशार्थी स्त्री के अन्य पारिवारिक सदस्य रात भर चलनेवाले यज्ञ और भजन में उपस्थित रहेंगे। रात के तीसरे पहर के आरंभ के साथ देवता की छाया स्त्री के शरीर में प्रवेश कर उसे संतान का आशीर्वाद देगी। देवता के प्रकट होने पर उससे डर जाने पर या उसके शरीर प्रवेश में किसी भी प्रकार की बाधा डालने पर देवता का प्रकोप होगा और उस हालत में संतान उत्पत्ति तो दूर परिवार पर कोई भी संकट आ सकता है और इसकी पुष्टि के लिए वह महाभारत के युग में ऋषि के नियोग (पति की संतानोत्पत्ति में असमर्थता पर पारिवारिक सहमति से किसी अन्य व्यक्ति के साथ संभोग) आचरण में यौनाचार करते समय संबंधित राजरानियों में से एक के भय से पीला पड़ जाने के कारण (संभवतः अन्य पुरुष से की विवशतापूर्ण यौनाचार की ग्लानि के कारण) जन्मजात पीलियारोग के ग्रस्त पाण्डु तथा यौनाचार करनेवाले ऋषि (तथाकथित) की रुक्ष मुखाकृति से भयभीत हो जाने के कारण आँखें बंद कर लेने वाली रानी की कोख से जन्मांध धृतराष्ट्र के जन्म की कथा का दृष्टांत सुनाते हुए किसी को किसी प्रकार का संशय हो तो दूर कर लेने तथा अंदर के मंडपों का निरीक्षण की भी पूरी छूट देते हैं। मगर महंतजी के प्रति लोगों की श्रद्धा ऐसी है कि कभी कोई उन मंडपों का निरीक्षण करता ही नहीं है।

सारा बाकया सुनकर मुझे मेरी सुशिक्षित सास की अकल पर तरस आयी कि यह महन्त पर श्रद्धा नहीं, बल्कि जन्मजात रुग्ण संतान से मुक्त रहने का अंधप्रयास है। अगर आज इस उद्धरण की तार्किक व्याख्या की जाए तो सिद्ध होगा कि पति के संतानोत्पत्ति की असमर्थता के चलते राजरानियों को एक तथाकथित ऋषि के साथ यौनाचार के द्वारा वंश का वारिस पैदा करने की अनिवार्यता की ग्लानि के कारण एक रानी उस कल्पना मगर विवशता के दारुण दुःख से पीली पड़ गयी थी और दूसरी ने तो उस विवशता के चलते निरुपाय अवस्था में उसी तरह आँखें बंद कर ली होंगी, जैसे बिल्ली के पास आ जाने पर आसन्न मृत्यु को देखकर कबूतर आँखें बंद कर लेता है। दोनों ही औरत की विवशता की कहानी ही है, जिसका पारायण मेरी सास खुद औरत होकर बिना किसी ग्लानि के गौरव से कर रही थी।

पहले की कुछ शर्तों पर तो मुझे कोई संदेह नहीं हुआ, मगर देवता के शरीर में प्रवेश करने की शर्त को मेरी तार्किक बुद्धि ने स्वीकार नहीं किया। देवता को आशीर्वाद ही तो देना है, तो वह स्त्री के पास बैठकर भी तो दे सकता है, उसके लिए शरीर में प्रवेश करने का मतलब तो सीधा यौनाचार ही था।

कुछ दिन बाद ही सासुजी के प्रतिनिधि ने लौटकर बताया कि फूलों का दोना स्वीकार हो गया है और मठाधीश ने हमारे परिवार पर उनके विशेष अनुग्रह के कारण दो माह की किसी विशेष महत्त्ववाली पूर्णिमा को आमंत्रित किया है। ऐसी पूर्णिमाओं को स्वयं मठाधीश की उपस्थिति में सारा कर्मकांड और रात के भक्ति कार्यक्रम का संचालन होता है।

इस बीच में एक बार मैके गयी तो मैंने अपने पिता के संयुक्त खाते से दस हजार रुपये निकाल कर इस धर्मकांड की किसी अप्रिय घटना से धनबल से निपटने के लिए सुरक्षित रख लिये।

निश्चित पूर्णिमा को जब हम मंदिर में पहुँचे, तो वहाँ विशाल मेला लगा था। तीन–चार हजार आदमी औरतों की भीड़ थी। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि संतान की आशार्थी भीड़ में अल्प शिक्षित तथा अशिक्षित महिलाओं और उनके परिवार के साथ मेरी जैसी सुशिक्षित औरतें भी अपने शिक्षित पारिवारिक सदस्यों के साथ शामिल थीं। हमारा परिवार क्योंकि महन्तजी का पुराना ग्राहक, अरे नहीं, यजमान था, सो महन्तजी ने हमें फौरन पहचान लिया और मेरे सासजी और जिठानी के लिए एक विशेष कक्ष और एक युवा सेवक का प्रबंध कर दिया, मगर उस युवक के मेरे शरीर को आँखों से नापने के अंदाज ने मेरी छठी इन्द्रिय को जगा दिया था। एक महत्त्वपूर्ण बात मैंने और नोट की कि इस महत्त्वपूर्ण पूर्णिमा के लिए चयनित सभी आशार्थिनियाँ काफी समृद्ध परिवारों से लगती थीं। निम्न तो क्या, आम मध्यवर्गीय परिवार की कोई स्त्री दिखाई नहीं पड़ रही थी। बाकी भीड़ अपना भाग्य अजमाने वालों की थी।

किसी को किसी बात का संशय न हो, इसलिए मैं दिन भर सारे काम उनके कहे अनुसार करती रही, मगर मैंने मन में एक निश्चय कर लिया कि धर्म के नाम पर स्त्री के साथ पारिवारिक सहमति से यौनाचार का कुकृत्य मैं अपने साथ तो नहीं होने दूँगी। पहले तो अपने पास सुरक्षित गुप्त धन का सहारा लूँगी, नहीं तो मैंने अपने अंतर्वस्त्रों में छिपाने लायक एक तेज धारवाला छोटा चाकू भी रख लिया था।

खैर सब अनुष्ठानों के बाद जब रात को प्रसाद ग्रहण करने की बारी आयी तो मैंने बड़ी तेज भूख लगी होने के बावजूद चतुराई से उसकी खीर को तो खिड़की से बाहर फेंक दिया और सास की संतुष्टि के लिए बर्तन को उंगलियों से चाट–चाट कर साफ कर दिया।

रात का देवता शयन आरती के बाद करीब दस बजे सभी आशार्थी स्त्रियों को उस बड़े हॉल में इकट्ठा किया गया। मैंने नोटिस किया कि सभी कुछ–कुछ मदहोशी जैसी हालत में थी, मैंने भी वैसा ही अभिनय शुरू कर दिया। सभी पंद्रह युवतियों को उस विशाल हॉल में अलग लकड़ी के तख्तों पर केले के पत्तों के आच्छादन और पीले कपड़ों के यवनिकाओं से विभाजित मंडपनुमा केबिन में पूर्व में आबंटित टोकन के अनुसार आकर पर्दा डालने को कहा गया। सभी परिजनों को हॉल का पूर्ण संतुष्टि के लिए आवश्यक परीक्षण करने की अनुमति दे दी गयी। जिसे कुछ भक्तों ने तो अरे स्वामीजी क्या हमें आप पर भरोसा नहीं, कहकर हाथ जोड़ लिये। दो–चार ने अपनी बुद्धिमत्ता और तत्परता दिखाते हुए निरीक्षण की औपचारिकता का संभवतया प्रायोजित नाटक किया, फिर किवाड़ बंद करके ताला लगाकर उसकी चाबी रात भर के लिए रखने का सामान मेरी सासु माँ को प्रदान किया गया।

रात को बारह बजे हाल के अंतिम छोर बने मंडप के तख्त के पायों के बीच से केले के पत्तों को हटाकर एक युवक रेंगता हुआ बाहर आया और उसने हॉल के पिछवाड़े की नदी की ओर बनी दीवार में एक आदमकद खिड़की की लोहे की छड़ों के जालवाले पट को किसी विशेष कौशल से खोल दिया, जिसमें एक आदमी खड़ा होकर प्रवेश कर सकता था। इस द्वार से एक–एक करके सभी पंद्रह युवक इकट्ठे हो गये, तो उसे पूर्ववत् बंद कर दिया गया। यह सभी युवा पुरुष वही देवता थे, जिन्हें संतान की आशार्थी युवतियों को संतानोत्पत्ति के वरदान देने के लिए उनके शरीर में प्रवेश के नाम पर उनके साथ आज की रात 3–4 घंटे पूरी स्वतंत्रता के साथ उन्मुक्त यौन क्रीड़ा का अधिकार प्राप्त था। सभी ने शरीर पर एक पीली धोती धारण की हुई थी। उनमें पहले थोड़ी देर कुछ हँसी–मजाक होता रहा, जो शायद एक उम्रदराज और स्थूल काय महिला को लेकर था, जिसके जवाब में उसके देवता ने यह कहकर मजाक और व्यंग्य का उत्तर दिया था कि कुछ सालों के बाद आज के अन्य देवताओं को भी ऐसी भक्तिन को स्वीकार करना पड़ेगा।

उस थोड़े–से हँसी–मजाक के बाद धीरे–धीरे सभी युवक अपने टोकन के अनुसार आबंटित केबिन में चले गये। हॉल में चारों कोनों में जल रहे दीपकों का मद्धम–सा प्रकाश था, जो हर मंडप के चारो कोने पर जल रही बड़ी संख्या में अगरबत्तियों के कारण बिल्कुल धूमिल हो गया था, जिसमें मानव तन एक छाया मात्र ही प्रतीत होता था।

अन्य देवताओं के अपने–अपने केबिनों में प्रस्थान के साथ ही मेरे देवता ने भी मेरी कबिन में प्रवेश किया। मैंने उसे प्रवेश करते ही पहचान लिया। यह वही युवक था, जिसे महन्त जी ने अपना खास आदमी बताकर सारा दिन हमारी सेवा या निगरानी के लिए हमारे साथ तैनात किया था। मैं चौकन्नी थी, आते ही वह ज्यों ही मेरे पास बैठकर, मेरे शरीर, को बाहुपाश में भरने के लिए झुका, मैंने विनीत स्वर में कहा–'मेरे देवता, मैं आपकी पूरी कृपा चाहती हूँ। इसलिए मेरे शरीर में प्रवेश के पहले मुझे आपके चरण–स्पर्श तो करने दो।'

'हाँ, हाँ, क्यों नहीं, अगर तुम्हारी इतनी श्रद्धा है, तो तुम्हें फल भी अनुपम मिलेगा भक्तिन, कहकर देवता ज्यों ही पीछे हटा, मैंने चरण–स्पर्श करते उसके दोनों पैर पकड़कर घसीट लिया। फोम का गद्दा होने से कोई आवाज नहीं हुई। कॉलेज के जमाने आत्मरक्षा के लिए सिखाये गये जूड़ो–कराटे के कुछ दाव–पेंच काम आ रहे थे। मैंने फुर्ती से उसके ऊपर बैठकर छिपे चाकू को निकाल लिया, फिर उसे अपना मन्तव्य बताया–देखो, मैं अपने शरीर से तो तुम्हें खेलने नहीं दूँगी। यों भी तुम्हें शरीर से ज्यादा लगाव नहीं होना चाहिए; क्योंकि तुम्हें तो हर पूर्णिमा को नई–नई युवतियों का शरीर मिल ही जाता है। अगर तुम मेरी बात मान लोगे, तो मैं तुम्हें पाँच हजार रुपये इसी समय दे सकती हूँ, बोलो। वैसे मैं डर तो रही थी कि अगर मेरा प्रस्ताव उसने स्वीकार नहीं किया, तो मेरे शोर की आवाज विशाल हॉल की दीवारों में और बाहर धार्मिक अनुष्ठान के शोर में गूँजकर रह जाएगी। मगर मैं अपने निश्चय पर दृढ़ थी।

पास के मंडप से चूमने के चटकारों की आवाज आने लगी थी। आशार्थी स्त्री देवता से विनती कर रही थी–'मेरे शरीर में पूरी तरह प्रवेश कर जाओ देवता और अपने पुरुष रूप में ही बालक बनकर प्रकट होना, नहीं तो मेरी सास मेरी सौतन ला देगी।'

'तेरी कामना पूरी होगी जातक, अब तू अपने को पूरी तरह मुझे समर्पित कर दे। भक्तिन, मैं तेरे शरीर में प्रवेश कर रहा हूँ।' का स्वर सुनाई पड़ा।

कृपा करो देव, का करुण समर्पित स्वर सुनायी पड़ा और फिर... कहकर वह थोड़ा लज्जा से नजर झुकाकर मौन हो गयी। थोड़ा रुककर फिर

बोली–'मैं भी अबतक एक युवक को काबू कर, कुछ निर्बलता महसूस करने लगी थी, मगर मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही, जब धराशायी युवक बोला–'रुपये नगद दोगी न और अभी।' मैंने कहा–'हाँ और सतर्कता बरतते हुए अपने हाथ मुक्त करने से पहले उसके हाथ और पाँव उसकी उतारी हुई धोती से ही बाँध दिये और एक केले का बड़ा पत्ता खींचकर उसके नंगे तन पर डाल दिया। फिर अपने छुपाये कोष में से पाँच हजार रुपये उसे दे दिये। मगर सतर्कता बरतते हुए रुपये देकर भी उसकी धोती से बँधे हाथ–पाँव मुक्त नहीं किये तो रुपये लेकर लगभग आधे घंटे तक तो वह चुपचाप पड़ा रहा, फिर बोला–'विश्वास करो, दगा नहीं करूँगा। वैसे मेरी इस स्थिति में आप भी मुझे बर्दाश्त नहीं कर पा रही हैं और बेहद असहज हो रही हैं... इसलिए अब मैं चला जाऊँ, यही ठीक रहेगा। कहकर वह केबिन या मंडप से बाहर चला गया, मगर सतर्क होकर रात भर जागती हुई बैठी रही।

सुबह मंगला आरती के उद्घोष के साथ मेरी सासजी ने बड़ी गौरवपूर्ण मुद्रा में हॉल का दरवाजा खोला, हर मंडप के पर्दा को हटाया गया। रूपवती पूर्ण यौवना आशार्थिनियों की हालत ऐसी थी, जिससे उनके अंगों की उच्छृंखलता पूर्ण यौनाचार किया जाना स्पष्ट दिखाई पड़ता था, शेष की हालत से उनका बर्बरतापूर्ण शरीरमर्दन का कार्यक्रम किया जाना तो पूरी तरह स्थापित था ही, जिसे देखकर उनके शरीर में देवता के प्रवेश करके, उन्हें संतान का आशीर्वाद मिल जाने का आश्वासन पाकर उनके परिवारजन अत्यन्त आह्लादित थे।

इधर मेरी सास ने मुझे अन्य युवतियों की अपेक्षा सामान्य सी हालत में देखा तो विस्मित होकर पूछा–'क्या देवता तेरे पास नहीं आये थे?' पहले तो मैं मौन रहीं, मगर फिर उन्हें आश्वस्त करने को कह दिया–'माँ! देवता तो आये थे। उन्होंने सिर पर हाथ फेरा, मगर उसके बाद मैं तो बेहोश हो गयी थी।' सुनते ही सासु माँ ने अपना माथा पीट लिया।

इसके एक माह बाद ही परिवार के एक प्रतिनिधि का दुबारा फूल चढ़ाने का प्रस्ताव सुनते ही मैंने स्पष्ट कह दिया कि मैं वहाँ नहीं जाऊँगी, तो घर में तनाव छा गया।

मैंने सुजीत को सारी घटना बताकर कहा कि आप विज्ञान के छात्र और शोधार्थी हो, आप अपना टेस्ट करवाने के बाद आपके सीमन में मोम्पाइल स्पर्म्स की वृद्धि का उपचार कराने के बजाय मुझे धर्म के नाम पर दूसरे व्यक्ति के साथ यौनाचार करके संतान प्राप्त करने को कहते हैं। छिः छिः फिर आपमें और हमारे माली में बौद्धिक स्तर पर कोई अंतर रह ही नहीं जाता।

मेरा वाक्य उनकी बौद्धिकता और पुरुषत्व दोनों को चुनौती था या उनके परिवार में ही किसी देवता रूपधारी पति के अलावा किसी अन्य पुरुष के यौनाचार से प्राप्त संतानों के रहस्य का खुलासा था, इन दो तथ्यों में से उन्हें किसने उन्हें इतना आहत किया कि उस दिन से बिल्कुल मौन रहने लगे। दो–दो, तीन–तीन दिन घर से गायब रहना उनकी दिनचर्या बन गयी। फिर यह अंतराल बढ़ने लगा। रिसर्च इंस्टीट्यूट से उन्हें नोटिस मिल गया तो अब सासुजी की साइंटिस्ट बहू उनके लिए सत्यानाशिनी बहू हो गयी।

एक साल और बीत गया। इस बीच इनका घर आने का अंतराल बढ़ता गया। मैंने किसी पर बोझ नहीं बनकर जीने की इच्छा से नौकरी कर ली। एम.एससी., पीएच.डी होने से लेक्चरशिप मिल गयी और मैंने वर्किंग वूमन हॉस्टल में रहना शुरू कर दिया। वक्त अपनी रफ्तार से गुजरता गया। मैंने अपने को एक बेहद रिजर्व वूमन के रूप में स्थापित कर लिया था। क्लास स्टुडेंट, लेक्चर की तैयारी खाली वक्त में मेधावी स्टुडेंट की समस्या समाधान करती। इसलिए न तो किसी को मेरे बारे में कोई बात गढ़ने का और न मेरे से निकटता बढ़ाने का अवसर मिला। पाँच साल बीत गये, एक दिन उनका एक पत्र मिला था–'साइंस इज द फंडामेंटल नॉलेज आफ एनी सब्जेक्ट, नाउ माइ मिशन इज टू नो द साइंस आफ रिलीजन, गिव योर गुड विशेज फार सक्सेज इन माई मिशन।'

उस पत्र के आये पंद्रह साल और बीत गये हैं। कुछ परिजनों ने सुजीत के साधु हो जाने की बात बारबार कही, तो मुझे लगा कि धर्म का विज्ञान जानने के लिए, उसके आधारभूत ज्ञान को प्राप्त करने के लिए हो सकता है कि सुजीत साधु हो गये हैं, वैसे भी जिम्मेदारी से भागनेवाले व्यक्ति के लिए यही इजी ऐप्रोच भी है। इसलिए सुजीत की तलाश में धार्मिक स्थानों की यात्रा शुरू कर दी। पाँच साल पहले पहली बार आयी तो बद्रीनाथ में एक साधु को देखा, भ्रम हुआ कि यह सुजीत ही है, मगर वह उस समय होनेवाली कर्पूर आरती के समूह में प्रवेश कर गया। मुझे तब यह भी ज्ञात नहीं था कि प्रवेश और निष्कासन अलग–अलग द्वार से होता है। वैसे भी उस समय वारिश होने लगी थी। उसके बाद हर वर्ष कपाट खुलने की घोषणा के साथ ही यहाँ आ जाती हूँ। यहाँ उपलब्ध साधनों का उपयोग करके ज्यादातर इसी आशा में पदयात्रा करती हूँ कि किसी दिन शायद सुजीत मिल जाए। शायद उसका मिशन सक्सेज हो गया हो।

कहते–कहते वह थोड़ी रुकी, लगा जैसे कहानी सुनाते– सुनाते थक गयी है। फिर बोली–यात्रा में आप जैसे बुजुर्ग जोड़ों को जब एक दूसरे के सहारे यात्रा करते देखती हूँ तो मन में एक टीस–सी उठती है, अगर मैं उम्र में उस पड़ाव पर पहुँच गयी, तो मुझे कौन सहारा देगा? कहते–कहते उनका स्वर आर्द्र हो गया।

'बेटी! मैंने सुजीत को देखा तो नहीं है, मगर जितना तुम्हारे मुँह से सुना, उससे लगा कि तुम्हारा सुजीत के प्रति एकनिष्ठ चाहत भक्ति की सीमा से भी आगे है। मेरा विश्वास है कि तुम्हारे सुजीत का मिशन सफल होगा और वह तुम्हारे पास आकर तुम्हारा सहारा पाकर ही तुम्हें संबल प्रदान करेगा। सुजीत की खोज में मैं भी तुम्हारी मदद करूँगा। अगर सुजीत का कोई चित्र तुम्हारे पास हो तो मुझे दोगी?' 'हाँ, मगर बीस साल पुराने चित्र से उन्हें पहचानेंगे कैसे?'

'बेटी! कभी–भी मन का विश्वास और टेलीपैथी जीवन की जटिल गुत्थियाँ सुलझाने में बहुत मदद करते हैं। मैं इसी विश्वास के सहारे सुजीत का चित्र माँग रहा हूँ।'

आप कहते हैं तो दे देती हूँ। कहकर वह उठकर अपने कमरे में गयी और थोड़ी देर में लौटी तो उनके हाथ में एक चित्र था, जिसमें एक सुंदर युवक कार के दरवाजे के पास खड़ा था। मैं बड़ी देर तक उस चित्र को देखता रहा, फिर अचानक दिमाग में एक बिजली–सी चमकी। मैंने पूछा–'बेटी! सुजीत क्या ज्यादातर काम बायें हाथ से करते हैं?'

'हाँ! क्या आप उन्हें पहचानते हैं?' वह स्कूली बच्चे की तरह बोली। मैं पहचानने की कोशिश कर रहा हूँ। क्या वह थोड़ी थोड़ी देर में अपनी पलकें एक विशेष अंदाज में तीन–चार बार लगातार झपकाते हैं?

'हाँ, अब बताइये, आप सुजीत को इतने नजदीक से कैसे जानते हैं?'

'बेटी! तुम्हारा सुजीत हमारे महानगर के पच्चीस–तीस किलोमीटर दूर एक विकासशील ग्राम में एक स्कूल चलाते हैं। वह कभी–कभी धर्म और विज्ञान से संबंधित कई विषयों पर भाषण देते हैं और हमारे महानगर से प्रकाशित होनेवाले एक राष्ट्रीय दैनिक में धर्म और विज्ञान के संबंध में जिज्ञासु के छद्म नाम से साप्ताहिक कॉलम भी लिखते हैं। यही उनकी आजीविका है। पिछले तीन साल से वह कई बार हमारी रिटायर्ड व्यक्तियों की संस्था में भाषण देने आ चुके हैं। भाषण के बीच में उनको एक हाथ विशेष प्रकार से हिलाने की आदत है। है न!' कहकर मैंने उनकी ओर देखा, तो वह बिल्कुल इस तरह लजाई–सकुचाई खड़ी थी, जैसे नवविवाहिता पुत्री पिता की उपस्थिति में पति की बात कहते सकुचाती है। उनकी आँखों से आँसू बहने लगे थे।

पत्नी जो अबतक पूरी तहर स्वस्थ हो चुकी थी, ने उन्हें स्नेह से गले लगा लिया और बोली–'देखो, तुमने सुना होगा–सेवा करे सो मेवा पावे, सो तुम्हें तो तुम्हारी निःस्वार्थ सेवा का प्रतिफल तुरंत ही मिल गया। अब तुम हमारे साथ ही चलो, यह तुम्हें तुम्हारे सुजीत से मिला देंगे, कहकर पत्नी ने उन्हें सीने से लगाया। तो वह बोली–आप ठीक ही कह रही हैं। मगर काफी सोचने पर मुझे लगा कि सुजीत का मुझसे दूर हो जाने का कारण–महाभारत की कथा में किसी ऋषि रूपधारी, पर पुरुष से संतानोत्पत्ति के लिए परिवार की सहमति से नियोग की विवशता को बर्दाश्त नहीं कर पानेवाली रानी द्वारा निरुपायता में आँख बंद कर लेने जैसा लिया गया आकस्मिक निर्णय ही था और उस प्रकरण के प्रसंग को वह भूल नहीं पाने के कारण ही, मेरे सामने आने को साहस नहीं कर पा रहे हों। आपने मुझे उनका पता देकर मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया है, अब मैं एक उपकार और चाहूँगी कि आप मुझसे इस आकस्मिक मुलाकात की बात अपने तक ही सीमित रखेंगे। मैं उनकी पत्नी होने के नाते उसकी यह ग्लानि दूर करके अपने पास वापस लाने का प्रयास और प्रतीक्षा करूँगी। आप दोनों मुझे आशीर्वाद दें कि मैं अपने मिशन में सफल हो सकूँ।' कहकर उन्होंने हमारी ओर दोनों हाथ जोड़ लिये।

'अरे बेटी! यह क्या कर रही हो?हम तो हमारे आशीर्वाद और शुभकामना सहित हमेशा पूरी तरह तुम्हारे साथ हैं। हाँ, हम भी तुमसे एक उपकार और चाहेंगे कि तुम हमसे संपर्क मत तोड़ना, संवाद और संपर्क जरूर बनाये रखना।' कहकर पत्नी ने उनकी ओर याचनापूर्ण नजर से देखा।

तो वह एकदम भावुक होकर पत्नी के गले से लगकर बालसुलभ चंचल किन्तु रुद्धप्राय स्वर में बोली–'जल्दी ही तंग हो जाओगी मेरे संवादों से।मुझे बहुत बोलने की आदत है।'

नहीं, मैं तुम्हारे संवादों से प्रेरित होकर उस दिन की प्रतीक्षा करूँगी, जब तुम अपने इस तपस्या जैसे मिशन में सफल होकर सुजीत को पाकर उसके साथ मिलने आओगी। एक बार मिलने आओगी ना! कहकर पत्नी ने आशाभरी नजर से उन्हें देखा, तो उन्होंने स्वीकृति में सिर हिलाकर पत्नी की गोद में अपना सिर छिपा लिया।

बाहर प्रकृति का तूफान थम गया था। मगर अब धर्म के स्वरूप को लेकर मेरे अंदर एक भीषण झंझावात उठ खड़ा हुआ था।

# गीत-

—शशिकला झा, वीरपुर,
सुपौल, बिहार,
मो.–9471658607

## गम टांक दो मेरे दामन में

क्यों खफा हो खुद से ऐसे
ना खुद पे यूँ सितम करो,
गम टांक दो मेरे दामन में
तुम अपना गम कम करो,
जो साथी छोड़ दे राहों में
राहों से रिश्ता जोड़िए,
जो बीता उसको छोड़कर
बस आज से रिश्ता जोड़िए,
क्यों सजा बने हो ऐसे
ना खुद पे यूँ जुलम करो,
गम टांक दो मेरे दामन में
तुम अपना गम कम करो,
जो आज है सच है कल जो था
वो परछाईं था मानिए,
एक जिन्दा एक परछाईं का
अब फर्क जरा पहचानिए,
बेजार बनो ना ऐसे
अपने पे अब करम करो,
गम टांक दो मेरे दामन में
तुम अपना गम कम करो,
जो इश्क बने खुदगर्ज सनम
उसकी मर्जी पर छोड़िए,
अपनी उम्दा एहसासों को
अपनों के संग ही जोड़िए,
लाचार बनो मत ऐसे
ना खुद पे यूँ भरम करो,
गम टांक दो मेरे दामन में
तुम अपना गम कम करो,

## हे कामिनी

हे कामिनी मनभाविनी
तूं प्रेम की है स्वामिनी,
तूं है बसंत की रागिनी
तू नव कमल नव मंजरी,
है प्रेम की तूँ बन्दिनी
तूँ भक्ति की है अंजुरी,
मन राग आज है जग रहा
तूँ मोह की है मोहिनी,
हे कामिनी मनभाविनी
तेरा ओज लज्जित चांदनी
तूँ ही रति परिभाष है,
है तूं लता कोमोलिनी
तूँ मेघ की है दामिनी,
हे कामिनी मनभाविनी
मैं प्यास तूं है निर्झरा
तूं प्रीत का अनुराग है,
तेरा अंग–अंग है सुमन भरा
तूं प्यार का ही सुवास है,
है प्रेम पल में सिमट रहा
मैं जोग तूं है जोगिनी,
हे कामिनी मनभाविनी
तूं प्रेम की ही स्वामिनी।

पुस्तक समीक्षा

## कमजोर पंखों के सहारे ऊँची उड़ान की कोशिश में लगे

# एक बेचैन कवि का हलफनामा

राजदेव सिन्हा का काव्य संग्रह 'कबतक पलाश को जिएँ' से गुजरते हुए

—अशोक सिंह,
केवटपाड़ा, दुमका,
झारखंड, 9431339804

एक ऐसे समय जब कविता के आलोचक कविता के सामाजिक विस्थापन की बात कर रहे हैं, हमें लगता है कि कविता समाज की पूरी तरह विस्थापित नहीं हुई है। हाँ, इधर की कविता में एक नयी चीज आ रही है कि वह अपने तमाम बदलावों के बावजूद पाठकों तक उस स्तर पर नहीं पहुँच पा रही है, जिस स्तर पर पहुँचने की अपेक्षा कवियों द्वारा की जाती है। आखिर क्या वजह है कि कविता जो मनुष्य के प्रारंभिक दौर से उसके साथ रही है, आज उसके पाठक निरंतर कम होते जा रहे हैं और कविता के सामाजिक विस्थापन का सवाल मुखर होता जा रहा है?

कविता के सामाजिक विस्थापन के सवाल पर चर्चा– परिचर्चा से कई बातें निकलकर सामने आती हैं। जहाँ तक मेरी समझ बनती है कि लोक के सामूहिक और सार्वजनिक आचरण की परिधि धीरे–धीरे सिकुड़ती जा रही है। नैतिक व अनुशासित जीवन की आकांक्षा घट रही है और संबंधों पर लोगों की आस्थाएँ कम हुई हैं। वे लोक जीवन से कटकर आधुनिकता की अंधी दौड़ में शामिल होते जा रहे हैं। परिणामतः अलगाववाद और अजनबीपन बढ़ा है। कवियों के स्वभाव में परिवर्तन हुए हैं। वे जनता से आज उतने सम्बद्ध नहीं दिखते हैं, जितना होना चाहिए, जिसकी वजह से उनके द्वारा रची जा रही रचनाएँ भी पाठकों की रुचि के अनुरूप खरा नहीं उतर पा रही है।

इस परिप्रेक्ष्य में अगर राजदेव सिन्हा के काव्य संग्रह 'कबतक पलाश को जिएँ' को देखें–परखें तो कमोवेश इनकी कविताएँ भी साहित्यिक विसंगतियों का शिकार लगती हैं। शायद ऐसी ही कविताओं की वजह से आलोचकों के उन विचारों को बल मिलता है, जिसमें कविता के सामाजिक विस्थापन और पाठक से उसकी बढ़ती दूरी की बात कही जाती है।

राजदेव सिन्हा के उक्त काव्य संग्रह से गुजरते हुए कई बातें सामने आती हैं, जिसे विनम्रता से कही जा सकती हैं। एक तो यह कि इनकी कविताएँ विषय वस्तु के स्तर पर समकालीन तो दिखती है, लेकिन शिल्प और बिम्ब के स्तर पर समकालीन कविता की मुख्यधारा से मेल नहीं खाती। समकालीन कविता के बारे में वरिष्ठ कवियों का मानना है कि कविता 'छंद मुक्त' नहीं मुक्त छंद में लिखी जानी है, चाहिए। इसका मतलब यह है कि छंदों के बंधन से मुक्त तो हुए हैं, लेकिन कथ्य से लेकर भाषा बिम्ब और शिल्प के स्तर पर काव्यानुशासन अपेक्षित है। वर्ना गद्य और पद्य में कोई अंतर नहीं रह जाएगा। इस लिहाज से इस संग्रह की कविताओं में अनावश्यक विस्तार तो है ही, शब्दों के चयन और उसकी बेतरतीब प्रस्तुति से कई जगह पुनरावृत्ति दोष भी दिखायी देता है। दूसरी बात इनकी कविता की भाषिक संरचना और अभिव्यक्ति इतनी ढीलीढाली है कि कविता में कसावट कम, बिखराव ज्यादा है। साथ ही बिम्बों का अभाव भी खटकता है। अधिकांश कविताओं में एकरूपता और एकरसता दिखाई देती है। विषय वस्तु के आधार पर विविधता तो है, लेकिन शिल्प और प्रयोग के स्तर पर एक ही 'फ्रेम' रची–बसी लगती है।

कहते हैं 'अनुभूति' आसान है, 'अभिव्यक्ति' कठिन, राजदेव सिन्हा की कविता में एक कवि के भीतर अपने आसपास के परिवेश को लेकर जो गहरी अनुभूति होती है, निःसंदेह वह अनुभूति उनकी कविताओं में है, परन्तु अभिव्यक्ति के स्तर पर उनकी कविताओं में बिखराव ज्यादा है। कविता के भाव और उसके भीतर निहित कवि का लेखकीय उद्देश्य कविता के भीतर दिखता तो है, लेकिन वह इतना सतही तौर पर दिखता है कि कविता हल्की हो जाती है। अनुपयोगी शब्दों के भरमार से जो कविता में अनावश्यक विस्तार हुआ है, उससे अधिकतर कविताएँ सपाटबयानी का शिकार हो गयी हैं। इतना ही नहीं, इनकी कविताओं से गुजरते हुए यह भी महसूस होता है कि अधिकतर कविताएँ प्रयास करके लिखी गयी, जबकि प्रयास यह किया जाना चाहिए कि प्रयास करके कविताएँ नहीं लिखी जानी चाहिए। इससे कविताओं की संख्या तो बढ़ती हैं, लेकिन उसकी गुणवत्ता प्रभावित हो जाती है। राजदेव सिन्हा की कविताओं में कृत्रिमता ज्यादा है, स्वाभाविकता और सहजता कम। यहाँ बात सिर्फ राजदेव सिन्हा की ही नहीं है, ऐसी काव्य धारा से जुड़े अधिकतर कवियों की कविताओं में सरलता तो है, सहजता नहीं। जबकि कविताओं में कवि की सहजता ही उसकी पहचान बनाती है। कवि अपनी कविता में जितना सहज होगा, उसकी लोक संवेदना भी उतनी ही गहरी और घनीभूत होगी। राजदेव सिन्हा की कविताओं में इन चीजों का अभाव खटकता है।

इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि राजदेव सिन्हा की कविताओं में कुछ है नहीं। वैसे भी कोई रचना निरुद्देश्य और संदेशविहीन नहीं होती। सबसे पीछे कवि–लेखकों का अपना कोई न कोई उद्देश्य निहित होता है और सामाजिक सरोकार भी। राजदेव सिन्हा की कविताओं में अपने समय और समाज की पीड़ा है। सामाजिक, राजनीतिक, विडम्बनाओं के प्रतिबिम्ब हैं। शोषित, पीड़ित, अभिवंचित वर्गों के प्रति पक्षधरिता तो है ही, वर्तमान व्यवस्था के प्रति आक्रोश भी कम नहीं है। घर–परिवार और रिश्ते–नाते की टूटन–घुटन के साथ–साथ धरती और पर्यावरण के प्रति उनकी सजगता दिखायी पड़ती है, तभी तो कवि कहता है कि कहाँ होगा बाजार फिर/ जब बाँझ हो जाएगी धरती/और मर जाएगी एक दिन। घर के प्रति भी कवि की संवेदना उल्लेखनीय है। कवि कहता है–घर वह है/जहाँ होते हैं हम/हमारे कुलबुलाते सपने/दरवाजा करता है अभिनंदन/चौखट उतारती है आरती/ दीवारें समझती हैं हमारी भाषा/ घर के संबंध में कवि एक जगह फिर कहता है कि घर में रहता हूँ/होकर बेघर/तलाश रहा हूँ/ घर में ही एक घर। घर के भीतर 'घर' की तलाश निःसंदेह कवि की बहुत सूक्ष्म और गहरी अनुभूति है। यहाँ कवि सहज दिखाई पड़ता है। यही वजह है कि इन पंक्तियों में सहज प्रवाह भी है और संवेदना की स्तर पर तरलता भी। माना जाता है कि जिस कविता में कवि अपनी संवेदना को तरल कर शब्दों में सहजता से ढालने में सफल होता है, वही कविता मर्मस्पर्शी होती है। पाठक के अंतस्तल को नम और मस्तिष्क को उत्प्रेरित व सक्रिय करने में सफल होती

है। राजदेव सिन्हा की कुछ एक कविताओं की कुछेक पंक्तियाँ निःसंदेह इस कसौटी पर खरा उतरती है।

कवि कहता है कि किया समझौता मैंने/अपनों से/आस–पास के लोगों से/जमाने से भी/ नहीं कर सका समझौता अपने आपसे कभी। निःसंदेह यह एक सच्चे और खरे कवि की प्रतिबद्धता है कि वह वक्त और हालात से लड़ता–भिड़ता है, व्यवस्था से कहीं–कहीं समझौता भी कर लेता है, लेकिन अपने आपसे समझौता नहीं करता। क्योंकि कवि का यह भी मानना है कि लगातार हार से ही बनती है/जीत की लंबी शृंखला/ रहती है जारी जो अविराम/अनवरत आकाश तक। निराशा के घोर अंधकार से घिरा कवि वर्तमान व्यवस्था से उठे सवालों का मिलकर जवाब ढूँढ़ने का आग्रह भी करता है, इस आशा और विश्वास के साथ कि सवाल स्वयं/बदलता है समाधान में/समस्याएँ उगती तो हैं/उन्हीं में फल भी उगते हैं/जो बड़े ही मीठे और स्वादिष्ट होते हैं। कवि की मानवीय संवेदना और सोच का दायरा घर–परिवार के रिश्ते–नाते से लेकर अपने आसपास और देश–दुनिया तक फैला है। जिसमें रिश्ते को लेकर कवि कहता है कि रिश्ते बनते हैं/बिगड़ते हैं/दब जाते हैं कुछ विस्मृति की परतों में/छोड़ जाते हैं/कुछ रिश्ते अपनी अमिट छाप/दिल पर दिमाग पर। दाबा में पलते बाल श्रमिक बच्चे के प्रति कवि की मानवीय संवेदन रेखांकित करने लायक है दुनिया से बेखौफ/ सारे जहाँ को/अपना घर समझते/अपने हिस्से का देश खोजते/अपनी निजता खोते/बड़े होने से पहले देखो बूढ़ा रहे हैं वे। 'आग पेट की' शीर्षक कविता को भी यहाँ इस संदर्भ में देखा–परखा जा सकता है, जिसमें कवि कहता है कि जिस प्रकार खोज लेता है जल/अपनी सतह/खोज लेती है उषा सूरज की लालिमा/खोज लेती हैं बूँदें/ वर्षा की सीप कदली/ठीक उसी प्रकार खोज लेती जूठन भी पेट की आग। इतना ही नहीं, धर्म आस्था के नाम पर साधु–संतों की आधुनिक जीवन पद्धति और उनके द्वारा लाये धार्मिक बाजारों के विरुद्ध कवि साधना के सच को उजागर करते हुए कहता है–बदल रही हैं मान्यताएँ/स्थानांतरित हो रही है आस्थाएँ/हो रहे हैं हाईटेक/हमारे स्वामी/साधु–संत। कवि भारत का पर्यायवाची ढूँढ़ने की असफल कोशिश में संभवतः 'इंडिया' और 'भारत' के बीच का फर्क दिखाना चाहता है, जिसके संबंध में देश के बुद्धिजीवियों की एक आबादी का मानना है कि हमारे देश में 'इंडिया' और 'भारत' दो तरह के समानान्तर देश हैं। कवि की वैचारिक पीड़ा भी उन्हीं बुद्धिजीवियों में से एक है।

ऐसे में अपने समय व समाज की विडम्बनाओं व विसंगतियों से घिरा कवि निराशा के घोर अंधकार में डूबा उजाले के लिए छटपटा रहा है। तभी तो कवि वर्तमान व्यवस्था से पूछता है–रेत है/रात है/गहन अंधकार है/प्रबल झंझावात है/काली घटाएँ हैं/नीरवता का साम्राज्य है/उजला मेरे हिस्से का/गुम है क्यों?

कुल मिलाकर राजदेव सिन्हा के नवीनतम काव्य संग्रह कब तक पलाश को जिएँ से गुजरते हुए कहा जा सकता है कि अपने झारखंड की उस पलाश–संस्कृति, जिसके वन प्रांतर की हरियाली और पलाश की रक्तिम लालिमा में सांस्कृतिक विविधता का उत्सव और उल्लास शामिल है, उसको लेकर कवि गौरवान्वित तो है, लेकिन उसके पीछे उस भयानक सच, जिसमें भय, भूख, भ्रष्टाचार के साथ–साथ गरीबी, शोषण, अत्याचार, प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, राजनीतिक कुटिलता और बाहरी–भीतरी वैमनस्यता की शतरंजी विसात बिछी हो, उस पलाश संस्कृति में जीते हुए ऊबन पैदा हो गयी है, जिससे कवि बाहर निकलने के लिए छटपटा रहा है। कवि की इसी छटपटाहट और बेचैनी का प्रतिबिम्ब है, 'कब तक पलाश को जिएँ'। समग्रता से एक वाक्य में कहें तो कवि राजदेव सिन्हा का यह संग्रह कमजोर पंखों के सहारे ऊँची उड़ान की कोशिश में लगे एक बेचैन कवि का हलफनामा है।

## शिनाख्त

**कविता**

**निर्मल मिलिन्द**
गोलमुरी, जमदेशपुर–3

मैं अपनी लाश पहचानता हूँ
तुम जो इतनी सारी लाशें
लेकर आये हो
उसमें वे लाशें हैं
जिन्हें तीन गोलियाँ लगी हैं
जिन्हें शूली पर चढ़ाया गया है
जिन्हें 'अनहलक' कहने के एवज में
जहर का प्याला पिलाया गया है
मेरे भाई
तुम वे लाशें ले आओ
जो तिरंगे को आकाश तक
उठाने के लिए
जमीन पर लोट गई होंगी
या फिर अपनी ही
खालिस अपनी ही सरकार को
चहेती पुलिस की गोली से
चोट खाकर गिरी होगी
अपना वाजिव हक
मांगने के कसूर में
मुझे वह लाश दिखाओ
जिसे किसी सम्प्रदायिकता ने
कत्ल कर दिया होगा
और उसकी नंगी पीठ पर
सरकारी हुक्मों से
पोस्टर लिखने वाले
'गरीबी हटाओ' लिखकर
ऊँघने लग गये होंगे ।

समीक्षा

# समय की गाँठ खोलता-सा : माधुर्य

डॉ0 अनुज प्रभात,
दीनदयाल चौक,
फारबिसगंज, अररिया, 8797671020

'माधुर्य' सुधी रचनाकार उमेश 'उत्पल' की पुस्तक के रूप में प्रथम कृति भले ही हो, लेकिन इनकी कविता, आलेख, संस्मरण, समीक्षा आदि विविध पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। मन में चिंतन का भाव और विचारों में हितैषी का भाव जैसे इनके सरल जीवन का प्रतीक होता है, वैसे ही जीवन के कटु अनुभवों को सरलता से रख देना, इनके कवि स्वभाव का शिल्प होता है। उमेश 'उत्पल' अपने काव्य संग्रह 'माधुर्य' में 'वंदना' से लेकर 'यही मेला है' तक कुल 39 कविताओं को लेकर उसी सरल स्वभाव के शिल्प बने हैं।

कहते हैं 'वंदना' जहाँ अपने आराध्यदेव की प्रस्तुति होती है, वहीं हम जिस धरती पर जन्म लेते हैं, जिस मिट्टी को नमन करते हैं, वह हमारी मातृभूमि होती है और हमारा कर्तव्य बनता है कि समय आने पर उसके लिए अपने आपको 'आत्मोत्सर्ग' कर दें। उमेश उत्पलजी इसे नहीं भूले हैं। इसलिए सवाल बनता–सा संदेश देते हैं–

'ज्ञात नहीं जन्मभूमि है क्या?
जननी मातृभूमि में भेद है क्या?
फिर उधेड़बुन में पड़े हो क्यों
आत्मोसर्ग करना है, चिन्ता क्यों?'

देश के लिए समर्पण में चिंता क्या करना?यह सबों में होना चाहिए। लेकिन यह भी एक चिंतनीय विषय है कि आज हमारे यहाँ की स्थिति राष्ट्र के प्रति वह नहीं है। स्वार्थवाद में राष्ट्रवाद शाब्दिक मंत्रोच्चारण–सा हो गया है। भ्रष्टाचार की परंपरा चल पड़ती है। हम न तो समाजवादी रहे हैं और न ही उतने ईमानदार।इसलिए उमेश उत्पलजी कहते हैं–

'बैठे–बैठे शोषणकर करता है व्यापार,
फैल गया है घर–घर में, अब तो भ्रष्टाचार
किसे कहूँ आप हैं भ्रष्ट।'(पृ0 13)

समय वह है जो आप भ्रष्टाचार की जड़ें कहाँ तक फैली हैं, आप तलाश नहीं पाएँगे।इसलिए किसी को कुछ कहना, लोगों को स्वयं नहीं बन पा रहा है और सबसे बड़ी बात आज मनुष्य पर से विश्वास भी उठता जा रहा है। छल, धोखा तो आम बात हो गयी है, साथ ही साथ मगरमच्छ के आँसू बहानेवाले घनेरे हैं। इस दृश्य से अपने आप को संवेदित पा उत्पल जी कहते हैं–

'करूँ अब किस पर विश्वास
छल–कपट से भरा है मानव
धोखा देने आता है
बनावटी आँसू बहाकर।'(पृ.–15)

पर क्या सब कुछ देखकर भी समय कभी ठहरा है?वह अपनी चाल से चल रहा है। कवि उसे पहचानने को लेकर कहते है–

"न रुकता पलभर, न कहता किसी से चल
समय बीतता जाता है–प्रतिपल–प्रतिपल।"

मनुष्य सांसारिक है।समय के साथ चलने की कभी–कभी उसकी विवशता भी होती है। ऐसे में कुछ परिस्थितियाँ ऐसी भी आती हैं, जब वह आशा–निराशा के भँवर में फँस जाता है।इस भँवर काल में कवि का चिंतन कहता है–

"सीमाहीन आशा में
शून्य भी नहीं
लघुहीन निराशा में कुछ भी नहीं।"(पृ.–24)

तात्पर्य यह कि आशा और निराशा के भँवर में न जाकर अपने पथ पर बढ़ते चलो, मत डुबाओ अपने को निराशा के पल में, यह कुछ भी नहीं... बस इसे सोचो।

कवि उमेश 'उत्पल' जी जितने संवेदनशील हैं, उतने ही भावुक भी हैं।देश, समाज, काल और परिस्थिति को मापते तो हैं ही, प्रकृति के प्रति अपने मन में उठनेवाले भाव भी व्यक्त करने से नहीं चुकते। विशेषकर वर्षा ऋतु की सुषमा उन्हें बेहद पसन्द है।संभवत:इसी जगत से उन्होंने इस संग्रह में– 'अनुपम सुषमा', 'मैं हूँ वर्षा रानी' और 'वर्षा' जैसी तीन–तीन रचनाएँ कर डालीं। लेकिन देखने योग्य यह है कि तीनों के पद और भाव अपने आप में अलग भाव लिये हैं।'अनुपम सुषमा' में जहाँ वर्षा की बूँदें गिरने पर प्रकृति की सुषमा में निखार आ जाता है, कलियों को सिहरण महसूस होने लगती है, मन पुलकित हो उठता है, वहीं 'मैं हूँ वर्षा रानी' में एक बिछोह का संदेश है, सागर से विलग होने का दर्द है।

कवि उमेश 'उत्पल' का यह 'माधुर्य' प्राय: सभी पर्यायों से युक्त है। मन की शान्ति, प्रेम, विरह, वेदना और समाज की संतप्त दिशाएँ, जो कहीं से भी अब मानवतावादी नहीं दिखतीं। सच तो यह है कि हम अपने आस–पास जो देखते हैं, उससे जो हमारे मन में बैचेनी होती है, उसे गाँठ बाँधकर रखना मानव स्वभाव नहीं है। वह अपने मित्रों, परिजनों आदि में से किसी–न–किसी के पास कहीं–न–कहीं गाँठ खोल गुवार निकालते हैं। कवि उमेश 'उत्पल' जी ने ऐसा ही किया है। अंतर केवल इतना है कि वे कहीं किसी के पास न जाकर काव्यों का सहारा लिया और उसमें पूर्व की चर्चा के अतिरिक्त मातृभूमि, कोशी के उस पार, मजदूर की मजदूरी, शोषण, अश्रुधार, जीने की कला सहित कई और रचना का संग्रह माधुर्य के रूप में प्रस्तुत किया, जो समय की गाँठ को खोलता–सा है।

कहानी-

# माँ

नीरजा हेमेन्द्र
न्यू हैदराबाद, लखनऊ, 9450362276

बड़े उत्साह से वो मेरे पास आया और मेरे पैरों को छूने के लिए झुक गया। कुछ ही क्षणों में मेरे दोनों हाथ उसके सिर के ऊपर आशीर्वाद की मुद्रा में थे। मुख से स्वतः निकल पड़ा, 'खुश रहो मेरे बच्चे.... जीते रहो।' आशीर्वाद के इन शब्दों को सुनकर वह संतुष्टि व गर्व के भाव के साथ मुझे देखकर मुस्कुराने लगे। उसका कुशल–क्षेम पूछने के पश्चात् उसे भोजन के लिए कहकर मैं रसोई में जाकर उसके लिए खाना गरम करने लगी। वह भी मेरे पीछे–पीछे रसाई में आ गया।

मुझे खाना गर्म करते देख बोल पड़ा, 'माँ! मेरे लिए खाना गर्म न कीजिए। आप नाहक परेशान हो रही हैं। माँ! आप आराम कीजिए। मैं खाना ले लूँगा।' उसने हठपूर्वक कहा। मैं जानती थी कि मेरे पीछे–पीछे रसोई में आने का उसका कारण भी यही था। इस समय दोपहर के ढाई बज रहे हैं। वह जानता है कि मैं एक बजे खाना खा लेती हूँ तथा यह समय मेरे आराम करने का होता है। किन्तु आज मैं आराम न कर उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। उसके मना करने के पश्चात् भी मैंने उसके लिए भोजन गर्म किया तथा निकालकर डायनिंग मेज पर रख दिया। वह भोजन करने लगा। उसके चेहरे पर आज भी वही निश्छल भोलापन व मासूमियत पसरी थी, जैसी आज से लगभग इक्कीस वर्ष पूर्व हुआ करती थी। जब वह पाँच वर्ष का बच्चा था। कुछ भी तो नहीं परिवर्तित हुआ है, न वो, न मैं। इस लंबे अंतराल में हमारे बीच से कुछ रिश्ते गुम हुए हैं, तो कुछ नये बने भी हैं।

आदित्य जिसे घर में सभी प्रेमवश बाबू कहते हैं, पी.सी.एम. (पब्लिक सर्विस कमीशन) की परीक्षा उत्तीर्ण कर भारतीय रेलवे में अधिकारी के पद पर अपनी ज्वाइनिंग दे कर आज पंद्रह दिनों के पश्चात् घर लौटा है। वह दो दिनों का अवकाश लेकर मुझसे व अपनी इकलौती बहन प्रियदर्शिनी से मिलने आया है। हम सब तो व्याकुल थे, उससे मिलने के लिए। प्रियदर्शिनी दिन में कई बार मुझे व उसे फोन करती। वह भी तो प्रथम बार इतनी लंबी अवधि के लिए घर से बाहर गयी थी। प्रियदर्शिनी आज सायं यहाँ आ जाएगी आदित्य से मिलने। वह भी दो दिनों तक यहाँ रुकेगी मेरे पास। भाई से मिल लेगी... उसके साथ रह लेगी। नई नौकरी है, क्या पता फिर कब आदित्य को अवकाश मिले?

उसकी प्रथम नियुक्ति भी तो यहाँ से दूर छतरपुर में हुई है। वहाँ से आने–जाने में काफी समय लगता है। अतः प्रत्येक साप्ताहिक या अन्य अल्पावधि के अवकाश में आना असंभव–सा है। आज प्रियदर्शिनी से भी इसी बहाने मेरी मुलाकात हो जाएगी। यद्यपि वह इसी शहर में रहती है, किन्तु काफी दिन हो गये उसे यहाँ आये। रसोई में बर्तनों के रखने की आवाज से मैं समझ गयी कि आदित्य ने भोजन कर लिया है तथा वह बर्तनों को रखने रसोई में गया है। मुझे संतोष की अनुभूति हुई। आँखें बंद कर मैं सोने का प्रयत्न करने लगी, किन्तु मेरी आँखों में दूर–दूर तक नींद नहीं थी।

मैं छत की तरफ टकटकी लगाये देख रही थी। मस्तिष्क विचारमग्न होता चला जा रहा था। प्रयत्न करने पर भी विचारों का प्रवाह थमने का नाम नहीं ले रहा था। विचारों का यह प्रवाह मुझे विगत दिनों की स्मृतियों में लेकर, लिये चला जा रहा था... वो दिन देखते–देखते समय किसी परिंदे की भाँति पंख लगाकर उड़ गये। ऋतुएँ आतीं, परिवर्तन के चिह्न छोड़कर समय की बाँहें पकड़े चली जातीं। इक्कीस वर्ष व्यतीत हो गये। समय के लंबे अंतराल का आभास अब मुझे कमजोर पड़ती हड्डियों व कभी–कभी काँपते पैरों के कारण होता है।

इक्कीस वर्ष पूर्व के वे दिन किसी चलचित्र की भाँति मेरे सम्मुख आते जा रहे थे....। '...मैं एक समृद्ध परिवार की बेटी थी। घर के पाँच भाई–बहनों में सबसे बड़ी। घर में पहली शादी हो रही थी, अतः मेरे माता–पिता ने बड़ी ही इच्छाओं और धूमधाम से मेरा विवाह किया, किन्तु उन्होंने मेरे विवाह में एक बड़ी भूल कर दी थी। इसे मैं उनकी भूल कहूँ या अपना भाग्य?क्योंकि कोई भी माता–पिता अपने बच्चों को सुखी देखना चाहते हैं, अतः ये उनकी भूल नहीं, कदाचित् यह मेरा भाग्य ही था कि पिताजी ने मेरा विवाह एक पिछड़े गाँव में कर दिया था। मैं शहर की सुख–सुविधाओं में पली–बढ़ी थी। समृद्ध घर था, अतः अभावों से परिचित नहीं थी। ससुराल में कृषि और बागवानी का कारोबार होता था। वे भी समृद्ध लोग थे। गाँव पिछड़ा था। विकास और आधुनिकता से कोसों दूर। प्रथम दिन से ही मुझे वहाँ अच्छा नहीं लगा। पति पढ़े–लिखे तो थे, किन्तु खेती व बागवानी के कार्य करते थे। सीधे–सरल वह कुछ–कुछ गँवई किस्म का व्यक्तित्व था उनका। शहरी युवकों जैसे मेरी कल्पनाओं में बसे पति की छवि से अलग। ससुराल में मेरा मन बिल्कुल नहीं लगता था। रही–सही सबसे कष्टप्रद बात यह थी कि वहाँ प्रातः नित क्रिया से निवृत्त होने के लिए घर के सभी सदस्यों को खेतों की ओर जाना पड़ता था। इस गाँव में अमीर हो या निर्धन किसी के घर में शौचालय नहीं था। प्रथम बार घर की महिलाओं के साथ खेतों की ओर जाते हुए मुझे लज्जा आयी... मैं बहुत रोयी थी। यही कारण था कि अपने विवाह को मैं माता–पिता की त्रुटि कहती थी। उन्होंने जिस वातावरण में मेरा पालन–पोषण किया था, उन्हें उसी के अनुरूप मेरा घर–वर देखना चाहिए था। कुछ समय पश्चात इसे मैंने अपना भाग्य मान लिया और ससुराल में समायोजित होने का प्रयत्न करने लगी, किन्तु मेरा भाग्य मुझे न जाने कहाँ ले जाना चाहता था। अनेक यत्न करने पर भी मेरा मन ससुराल में नहीं लगता था। कुछ दिन ससुराल, तो अधिकांश दिन मायके में गुजरने लगा। धीरे–धीरे माँ से मैंने इस विवाह से उपजी अपनी परेशानियों से अवगत कराया। ससुराल में मुझे दोनों समय भरपेट भोजन भले मिल जाता था, किन्तु फल–फूल, दूध, चाय, कॉफी जैसी अनेक चीजें जो मुझे अच्छी लगती थीं व माँ के घर बड़े चाव से खाती–पीती थी, यहाँ दुर्लभ थीं। पैसे तो मुझे कभी दिये ही न जाते। चलते समय माँ मुझे जो कुछ पैसे दे देतीं, वे भी मेरे पास यूँ ही पड़े रहते। उन पैसों का उस गाँव में क्या करती?

कभी–कभी मैं सोचती कि यदि मेरा विवाह गाँव में ही करना था, तो मेरे माता–पिता ने मेरा पालन–पोषण गाँव में रहने योग्य तरीके से क्यों नहीं किया?आखिर जो गाँवों में रहते हैं, वे भी तो प्रसन्न रहते हैं। किन्तु मेरा मन क्यों नहीं यहाँ लगता?कुछ दिन ससुराल तो कुछ दिन माँ के घर रहकर दिन व्यतीत होते रहे। धीरे–धीरे दो वर्ष व्यतीत हो गये। मेरी गोद में एक बेटा बन्टू आ गया। मैं स्नातक उत्तीर्ण थी, किन्तु इन परिस्थितियों में मेरी शिक्षा भी मेरे काम नहीं आ रही थी।

माँ के घर आने के पश्चात् मैं शीघ्र ससुराल जाना नहीं चाहती थी। ऐसा अक्सर होने लगा। मायके में रुक जाने के कारण ससुराल पक्ष के लोग नाराज रहने लगे। स्थिति तलाक तक आ पहुँची। मैं भी यही चाहती थी, किन्तु मेरे माता–पिता ऐसा नहीं चाहते थे। उन्होंने मेरा रिश्ता बचाने के लिए अनेक

प्रयत्न किये। किन्तु मेरी इच्छा ने उनके प्रयत्नों पर विजय पायी। तलाक के पश्चात् मैं बन्टू को अपने पास रखना चाहती थी, किन्तु उसे उसके पिता अपने साथ ले गये।

नई स्वतंत्रता व स्वच्छंदता के कारण माँ के घर मेरा मन और भी लगने लगा... अच्छा लगने लगा, किन्तु कबतक..?जीवन का कोई उद्देश्य न था। मेरे ऊपर व्याहता का लेबल चस्पा था। अत: कुँआरी लड़कियों जैसा मेरा जीवन नहीं हो सकता था, किन्तु मन कुछ–कुछ वैसा ही महसूस करता। अपनी इच्छा अनुरूप जीवन जीने के सपने देखता। माँ के दिये पैसे ससुराल में काम नहीं आते थे। किन्तु यहाँ कम पड़ जाते। माँ से और पैसे माँगता। कभी–कभी माँ देतीं, तो कभी घर में किसी आकस्मिक खर्च के आ जाने के कारण माँ मेरे ही पैसों में कटौती कर मुझे कम पैसे देतीं। मुझे देनेवाले पैसे माँ को व्यर्थ लगते थे। माँ भी क्या करतीं, उन्हें पूरे घर की आवश्यकताएँ पूरी करनी थीं, अत: पैसों की कमी बनी ही रहती थी।

माँ मुझे देखतीं, तो परेशान रहतीं.... आखिर चौबीसो घंटे उनके समक्ष जो रहती। कभी–कभी माँ मुझे दूसरा विवाह कर लेने की सलाह देने लगी थीं, जो कि मुझे कुछ–कुछ उचित ही लगता। उस समय मैं उम्र का पच्चीसवाँ वर्ष पूरा करनेवाली थी। मुझे समझ आने लगा था कि अकेले जीवन व्यतीत करना सरल नहीं है। स्त्रियाँ अपने व्यक्तित्व को चाहे जितना भी सशक्त साँचे में ढाल लें, समाज उन्हें तोड़ने का प्रयत्न करता ही है; किन्तु मैं टूटनेवालों में से नहीं थी। मैंने सदा आगे बढ़ने में विश्वास किया। माँ के साथ रहते हुए मुझे आर्थिक स्वावलंबन की आवश्यकता का तीव्र अनुभव हुआ। मैं ग्रेजुएट थी, अत: अपने इस शहर में ही कोई भी नौकरी पाने के प्रयासों में लग गयी।

नौकरी की तलाश के दौरान मुझे आभास हुआ कि आज के समय में मात्र स्नातक कर लेने से नौकरी सरलता से नहीं मिलती। इस शिक्षा के साथ ही साथ कोई व्यावसायिक या तकनीकी शिक्षा भी आवश्यक है। अथक भाग–दौड़ करने के पश्चात् मुझे एक निजी कार्यालय में नौकरी मिल गयी। कुछ भी नहीं से ये अल्प आय वाली नौकरी ठीक ही थी। खाली बैठने से अच्छी थी ये व्यस्तता। इस नौकरी से प्राप्त आय मुझ अकेले के लिए भी पर्याप्त न थी। शनैः शनैः मुझे ज्ञात होने लगा कि रोजगार की तलाश में भटकते पढ़े–लिखे युवक–युवतियों का निजी कंपनियाँ कम पारिश्रमिक देकर, अथक परिश्रम व काम लेकर किस प्रकार शोषण करती हैं।

एक अच्छी नौकरी पाने के लिए मेरी कई बार तीव्र इच्छा भी हुई कि कोई व्यावसायिक कोर्स कर लूँ, किन्तु परिस्थितियों ने साथ नहीं दिया। उसी नौकरी को करते–करते दो वर्ष व्यतीत कर दिये। अभावों और भविष्य की चिंता ने मेरे भीतर पैसों की लालसा और सुख–सुविधापूर्ण जीवन जीने की इच्छा बलवती कर दी। पैसे का मूल्य मैं समझने लगी थी। साथ ही यह भी कि वर्तमान समाज में आदर्श व उच्च विचारों से नहीं, बल्कि पैसों से व्यक्ति का आकलन होता है। मैं ये भी जानने लगी थी कि धन–संपदा इतनी सरलता से नहीं कमाई जा सकती।

मेरे जीवन में एक बड़ा परिवर्तन होनेवाला था, जिससे मैं अनभिज्ञ थी। एक दिन मेरे किसी परिचित ने इन्द्र प्रकाश के परिवार से मेरा परिचय कराया। इन्द्र प्रकाश का परिवार शहर के धनाढ्य व संभ्रान्त परिवारों में से एक था। जब मैंने प्रथम बार उनके महलनुमा घर में प्रवेश किया था, तो घर की भव्यता के साथ वर्दी में सजे नौकर–चाकर, विदेशी नस्ल के चमकदार कुत्तोंघर में सर्वत्र फैली संपन्नता आदि को देखकर अचंभित थी। घर के अंदर से बाहर तक सब कुछ भव्य व कलात्मक था। घर के प्रत्येक कोने में समृद्धि का वास था। उस समय मैं उनके घर के कुछ सदस्यों से भी मिली। उनके परिवार में उनकी वृद्धा माँ तथा दो छोटे बच्चे, जिनकी उम्र संभवत: छह–सात वर्ष से अधिक न होगी, थे। इन्द्र प्रकाश किसी कार्य से सिलसिले में बाहर गये थे। बच्चों को देखकर मैंने अनुमान लगाया कि इन्द्र प्रकाश व उनकी पत्नी की उम्र अधिक न होगी। वे युवा होंगे। मेरे मन में ये प्रश्न भी उठ रहा था कि युवावस्था में ही कैसे उन्होंने इतनी समृद्धि व धन अर्जित कर लिया होगा?उनकी पत्नी नहीं दिख रही थीं। मैंने उनके बारे में वहाँ किसी से कुछ नहीं पूछा तथा अनुमान लगाया कि कदाचित् वे भी इन्द्र प्रकाश के साथ बाहर गयी होंगी।

इन्द्र प्रकाश के छोटे–से परिवार से मिलकर मैं उस महलनुमा घर से बाहर आ गयी। बातों–बातों में उस परिचित द्वारा ज्ञात हुआ कि छोटे बेटे को जन्म देते समय इन्द्र प्रकाश की पत्नी का देहान्त हो गया था। सुनकर हृदय विषाद से बोझिल हो गया।

कुछ दिनों के पश्चात् मेरे पग पुन: इन्द्र प्रकाश के घर की ओर बढ़ चले। उस दिन मैं अकेली गयी थी, इन्द्र प्रकाश के घर। उस दिन इन्द्र प्रकाश से मिलकर हृदय और अधिक व्यथित हो गया। इन्द्र प्रकाश युवा तो थे, किन्तु अत्यन्त कृषकाय व अस्वस्थ लगते थे। इतने बड़े साम्राज्य के मालिक को ऐसी कौन सी व्याधि लगी होगी, जिसका पैसों से उपचार होना संभव न था?असाध्य! हाँ, इन्द्र प्रकाश किसी असाध्य व्याधि से ग्रसित थे। जिसका उपचार पैसों से करा लेना संभव नहीं था। ज्ञात हुआ कि चिकित्सकों ने उनके शेष जीवन की अवधि भी अल्प बतायी थी। उफ! इतना पैसा, इतनी समृद्धि सब कुछ उपलब्ध होते हुए भी ऊपरवाले ने इतना बड़ा दु:ख व इतनी बड़ी त्रासदी उन्हें दी है। विधाता का भी कैसा न्याय है?बिन माँ के दो छोटे बच्चे हैं, वृद्धा माँ जीवन के अंतिम पड़ाव पर है तथा इन्द्र प्रकाश जिनकी साँसों की डोर कभी भी टूट सकती है। कुछ दिन, कुछ माह, कुछ वर्ष...। कुछ भी निश्चित नहीं है।

गाहे–बगाहे जब भी अवसर मिलता, मैं इन्द्र प्रकाश के घर चली जाती। न किसी विशेष व्यक्ति से मिलने, न ही मिलने का कोई विशेष कारण था, फिर भी न जाने मेरे पग उधर बढ़ जाते। एक दिन बातों–बातों में इन्द्र प्रकाश की माँ से ज्ञात हुआ कि वे दोनों छोटे बच्चों व घर की देखभाल के लिए इन्द्र प्रकाश का पुनर्विवाह किसी शिक्षित व समझदार लड़की से करना चाह रही हैं। इसके लिए उन्होंने कई लोगों से बात भी की हुई है और उस दिन घर आकर उनकी बातों पर विचार करती रही। कुछ ही दिनों में मैं स्वयं इन्द्र प्रकाश से अपने विवाह का प्रस्ताव उनकी माँ के समक्ष रख चुकी थी। मुझे आज यह स्वीकार करने में किंचित् मात्र भी संकोच नहीं है कि मैं इन्द्र प्रकाश से विवाह अपने स्वार्थ के लिए कर रही थी, न कि किसी ममता या परोपकारवश। मैंने यही सोचा कि इन्द्र प्रकाश की वृद्धा माँ के जीवन के कुछ ही समय शेष हैं। इन्द्र प्रकाश भी अपनी व्याधि के कारण लंबा जीवन नही जी सकेंगे। उनकी पत्नी होने के नाते इस साम्राज्य, इस धन–दौलत, इस ऐशोआराम की स्वामिनी मैं ही बनूँगी। अभावों में रहने व सम्पन्न जीवन जीने की लालसा ने कदाचित मेरे अंदर ये सोच भर दी थी। मैं जानती थी कि इन्द्र प्रकाश की मृत्यु के पश्चात् उनकी सम्पत्ति कानूनी रूप से उनकी व्याहता पत्नी की हो जाएगी, जो मैं हूँगी। सम्पत्ति प्राप्त करने का ये शार्टकट मार्ग मुझे अच्छा लगा।

मेरे निर्णय से मेरे घरवालों को प्रसन्नता नहीं हुई। ये मैं उनके चेहरों को देखकर जान गयी थी, किन्तु किसी ने विरोध नहीं किया। मेरी दृढ़ता देखकर विरोध करने का साहस भी नहीं था उनमें। अपनी जिंदगी का निर्णय

लेने के लिए मैं स्वतंत्र थी। इसमें किसी का हस्तक्षेप स्वीकार करनेवाली नहीं थी मैं, यह उन्हें भली प्रकार ज्ञात था।

इन्द्र प्रकाश से विवाह कर मैं उनके घर आ गयी। उनके साथ, उनके घर में रहकर मुझमें न जाने कैसा परिवर्तन आने लगा?न चाहते हुए भी मैं उनकी वृद्धा माँ की सेवा करने को तत्पर हो उठती। वो मुझे आशीर्वादों से नवाज देतीं। आदित्य को कब स्नेहवश बाबू कहने लगी, ज्ञात नहीं। बाबू अत्यन्त मासूम था। प्रियदर्शिनी आदित्य से डेढ़–दो वर्ष बड़ी थी। जब भी किसी बात पर आदित्य रोता और मैं अनसुना कर देती, प्रियदर्शिनी शीघ्र उसके पास चली जाती। उसे चुप कराती। उसे समझाती कि 'मेरे भाई! माँ कार्यों में व्यस्त हैं। चुप हो जा। अभी माँ के पास ले चलूँगी।' जबकि ऐसा नहीं होता। मैं कुछ नहीं कर रही होती, उसका रोना देखकर भी अनदेखा कर देती। वह मेरी किसी बात का बुरा नहीं मानती। मेरी प्रत्येक कही बात का आदेश की तरह पालन करने के लिए तत्पर रहती।

इन्द्र प्रकाश का स्वास्थ्य दिन–प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा था। उनकी सेवा के लिए घर में नौकर–चाकरों के अतिरिक्त एक परिचारिका भी नियुक्त थी। अतः मुझे कुछ विशेष नहीं करना पड़ता था। अंततः तीन वर्ष भी पूरी तरह न व्यतीत हुए कि एक दिन इन्द्र प्रकाश चल बसे। दोनों छोटे बच्चे रोते हुए मुझसे लिपट गये थे। रोते–रोते उनकी आँखों से अश्रु सूख गये। उन दिनों वे किंचित् मात्र भी मुझसे दूर होना नहीं चाहते थे। मेरे साथ रहना... मेरे साथ खाना.... मेरे साथ सोना...। मैं भी इस दुःख की घड़ी में उन्हें स्वयं से दूर न करती। इस अवस्था में भी इन्द्र प्रकाश की माँ की सक्रियता देखने व प्रेरणा लेनेवाली थी। उन्होंने अपनी आँखों में अश्रु न आने दिया और न स्वयं को टूटने दिया। मैं जानती थी कि इस त्रासदीपूर्ण घटना से वे भीतर–ही–भीतर हिल चुकी हैं, टूट चुकी हैं, किन्तु अपना दुःख दुनियावालों के समक्ष व्यक्त नहीं किया, न स्वयं को कमजोर पड़ने दिया।

इन्द्र प्रकाश के देहान्त के पश्चात् होनेवाले सभी धार्मिक व सांसारिक कार्यों को बखूबी सम्पन्न किया। इन्द्र प्रकाश के निधन के कुछ ही माह व्यतीत हुए होंगे कि एक दिन घर में वकील को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैं असमंजस में थी, क्योंकि वकील के आने के कारण की मुझे भनक तक न थी।

'बहू यहाँ आओ, कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य है।' इन्द्रप्रकाश की माताजी के काँपते स्वर मेरे कानों में पड़े। वे ड्राईंग रूप में वकील के पास बैठी थी। ईश्वर उनकी कैसी परीक्षा ले रहा है?उम्र के इस पड़ाव पर कितने दुःख... उफ्! इतने दुःख झेलने के पश्चात् भी उनके साहस में कोई कमी नहीं। इतने बड़े समृद्ध कारोबार के लिए सोचना, उनके जैसी जीवट स्त्री का ही कार्य है।

मन में उनके प्रति आ रहे प्रशंसा के भावों को छुपाती हुई मैं ड्राईंग रूम के सोफे पर आकर बैठ गयी। वकील को देखकर मन आशंकित हो रहा था कि कहीं मुझे सम्पत्ति से बेदखल कर सब कुछ इन्द्रप्रकाश के दोनों बच्चों के नाम तो नहीं कर दिया जा रहा है। ऐसा हो गया तो मेरी तो सोची–समझी योजनाओं पर पानी फिर जाएगा। वकील पेपर पलट रहा था। कुछ ही क्षणों में उसने मेरे समक्ष हस्ताक्षर करने हेतु एक पेपर बढ़ाया।

वो एक कानूनी उत्तराधिकारी संबंधी दस्तावेज था। उसमें लिखी पंक्तियाँ मैं पढ़ती जा रही थी तथा आत्मग्लानि से भरती जा रही थी। इन्द्र प्रकाश की माँ ने मुझे संपूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी का अधिकार दे दिया था। मुझे इतना सम्मान दिया था कि मुझे स्वयं पर लज्जा आने लगी। मुझे इस सम्पत्ति से वैराग्य उत्पन्न होने लगा। इस घर में रहनेवालों के महान विचारों व अच्छाइयों के समक्ष में स्वयं को तुच्छ पा रही थी।

'माँ जी! आपके रहते हुए इसकी क्या आवश्यकता है?' मैं किसी प्रकार बोल सकी। 'है बहु! आवश्यकता है। मेरा क्या भरोसा, कब ऊपरवाले का बुलावा आ जाये और मैं चल पड़ूँ। तू मेरे लिए इन्द्र प्रकाश से कम नहीं है। मैं तुम्हें तुम्हारा अधिकार देकर निश्चिन्त हो जाना चाहती हूँ।' कहकर काँपते हाथों से उन्होंने वो सभी कागजात मेरी ओर सरका दिये थे।

मेरे समक्ष वो सब कुछ था, जिसके लिए मैंने रुग्ण इन्द्र प्रकाश से विवाह किया था। किन्तु मुझे इन सबसे वितृष्णा हो गयी। दोनों बच्चे जिन्हें देखकर मेरे हृदय में कभी भी प्रेम व ममता उत्पन्न नहीं हुई, आज सामने सोफे पर उन्हें बैठे देखकर उनकी मासूमियत पर हृदय में ममत्व आप्लावित हो रहा था तथा स्वयं से घृणा हो रही थी।

बच्चों से मैं द्वेष करती थी। उन्हें मार्ग का कंटक समझती थी। बच्चे इतने मासूम थे और उन्हें इतने अच्छे संस्कार दिये गये थे कि मुझे विश्वास था कि आवश्यकता पड़ने पर वे बच्चे मेरे लिए सब कुछ कर सकते हैं। मुझे स्मरण होने लगा कैसे वे पूरे दिन मेरे इर्द–गिर्द रहते, उनका माँ...माँ...कहना मुझे उद्वेलित करने लगा। मैं कैसी निष्ठुर थी कि उनके वात्सल्य में पगे शब्दों को अनसुना करती रही।

उस दिन उन कागजात पर हस्ताक्षर करने के उपरांत स्वयं को इन्द्रप्रकाश के स्थान पर स्थापित कर लिया। घर के सभी लोगों की देखभाल पूरे मनोयोग तथा उत्तरदायित्व से करने लगी। मेरे भीतर यह परिवर्तन बलात् नहीं स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हुआ था। दो वर्ष पश्चात् इन्द्र प्रकाश की माता जी को भी इस दैहिक जीवन से मुक्ति मिल गयी। मैंने इस घर को पूर्ण रूप से अपना लिया। इस घर ने तो मुझे पहले ही अपना लिया था।

बच्चे बड़े हो रहे थे, समझदार भी। मेरे मुख से जो शब्द निकलते बच्चे उसे आदेश समझकर उसका अक्षरशः पालन करते। धीरे–धीरे इन्द्र प्रकाश की बिखरी सम्पत्ति को मैंने व्यवस्थित किया। उनके कारोबार को आगे बढ़ाया। मैं बदल चुकी थी। अपनी पूर्व की पहचान व व्यक्तित्व से पृथक्।

बाबू की रुचि पढ़–लिखकर प्रशासनिक क्षेत्र में नौकरी करने की थी। मैंने उसे वो करने दिया। घर तथा व्यापार के झमेलों से उसे दूर रखा। प्रियदर्शिनी को बिजनेस मैनेजमेंट में उच्च शिक्षा दिलवाई ताकि आवश्यकता पड़ने पर वह अपने पापा के व्यापार को सँभाल सके; किन्तु ऊपरवाले की कृपा रही और उसका विवाह एक समृद्ध घर में पढ़े–लिखे योग्य लड़के से सम्पन्न कराया।

आज बाबू भी प्रशासनिक अधिकारी की नौकरी पाकर प्रसन्न है। अब आगे बढ़ते चले जाना है। मैं आराम करना छोड़ उठ पड़ी। पुरानी स्मृतियाँ भी मेरे होठों पर एक सुखद मुस्कान देकर चली गयी थी। मुझे सहसा स्मरण हो आया कि अभी प्रियदर्शिनी आती होगी। उसके लिए कुछ विशेष खाने–पीने की चीजें बनवा दूँ। वह माँ बननेवाली है। प्रथम बार मैं नानी के रूप में एक नये रिश्ते से जुड़ने जा रही हूँ।

रसोई में जाकर मैं नौकरों को विशेष भोजन बनाने का निर्देश देने के पश्चात् बाबू का हाल लेने हेतु उसके कक्ष की ओर बढ़ जाती हूँ। वह बिस्तर पर बेखबर सो रहा है। उसके कमरे की बत्ती जल रही है। मैं जानती हूँ कि वह रोशनी में नहीं सो पाता है। कदाचित् यात्रा से थक गया होगा, अतः कमरे की बत्ती जलती छोड़ दी है। मैं उसके कक्ष की ओर बढ़ जाती हूँ। मैं उसके कक्ष की बत्ती बंद कर निश्चिन्त–सी होकर बाहर आती हूँ। माँ...माँ... सहसा बाबू के स्वर कानों में पड़ते हैं। उसे आभास हो गया था कि मैं कमरे में आयी हूँ... और वह पुकार उठा–माँ...माँ! सच ही तो है। मैं माँ हूँ। इन बच्चों ने मुझे माँ का स्थान दिया है। मेरे संपूर्ण व्यक्तित्व को माँ के साँचे में ढालकर संपूर्ण व महान बना दिया है।

कहानी :

# रिश्तों की अहमियत

**डॉ. नलिनी श्रीवास्तव**
खैरागढ़, दुर्ग (छ.ग.)
मो०–9752606036

बगीचे की सुंदरता देखते ही मुझे रामदयाल माली की याद आ जाती है। कितना समर्पित भाव से वह बगीचे की देख भाल करते रहता था। कभी–कभी मैं उससे एक फूल माँग लेती तो वह अपनी खुरपी छोड़ते दौड़ते हुए मेरे पास आ जाता और कहता–ठहर जा बेटी! मैं तुझे फूल देता हूँ। जिस फूल में तुम हाथ लगाई हो, उसे नहीं लेना। वह अभी और खिलेगा, यह कहकर एक थोड़ा–सा मुरझाये हुए फूल को देकर हँसते हुए कहता–'देख बेटी! यदि मैं नहीं तोड़ता तो भी यह फूल अपने आप गिर जाता। इस फूल से तुम्हें खुशी मिल रही है और मुझे भी कोई एतराज नहीं है। यह कहकर वह तुरंत फिर से काम में लग जाता। यह बात कितने ही वर्षों पहले की है। कभी–कभी सोचती हूँ, बगीचे और जीवन का कितना सुंदर समन्वय है। अपने ही गाँव में एक समृद्ध किसान रहता था, जिसका नाम बुधराम था। आज के परिवेश में दिन–रात परिवारों में होनेवाली उल–जलुल घटनाएँ देखते हुए मुझे बुधराम की बार–बार याद आ रही है।

अपनी जीवन बगिया को बहुत सुंदर बनाने के लिए बुधराम और उसकी धर्मपत्नी मनीबाई दिन रात अपने खेतों में मेहनत करते रहते थे। बुधराम के दो बच्चे थे। बुधराम हमेशा अपने बच्चों को ईश्वरी वरदान मानता और उनका परवरिश करना ही भगवान की पूजा मानता था। बेटा दिनेश और बेटी ईला की ही देखरेख में हरवक्त समय व्यस्त रहता था। बच्चे भी उसका कहना मानते थे। पूरे गाँव में बुधराम के बच्चों की चर्चा होते रहती थी। कारण यह था, दोनों ही बच्चे पढ़ाई में अपनी कक्षा में सदैव पहले नंबर में पास होते थे।

एक दिन चौपाल में बैठे हुए बुधराम लोगों को समझाने के लिए कहता, परिवर्तन ही जीवन का नियम है। हमें समय के साथ चलना चाहिए, तभी हम सुखी रहेंगे। यह सच है कि नई पीढ़ी की रफ्तार कुछ अधिक तेज है। आधुनिकता के सैलाव में बहते हुए वे जल्द ही अपनी मंजिल पाने के लिए व्याकुल हो जाते हैं। पुरातन और अधुनातन में यही तो सबसे बड़ा अंतर है। आज की युवा पीढ़ी यह समझने को तैयार ही नहीं होता कि प्रगति की गति यदि धीमी है तो वह स्थायित्व प्राप्त करती है। यदि गति तेज है, तो कभी कभी ऐसा भी हो जाता है कि रेत के महल की भाँति सब कुछ धूलि–धूसरित हो जाता है। यह सुन गाँव के कितने ही किसान बुधराम की बुद्धि की तारीफ करने लगते थे। पर हीरालाल कभी भी सबके हाँ में हाँ नहीं मिलाता था। उसकी सोच कुछ अलग थी। वह कहता था इंसान जो सोचता है, वह हमेशा सच नहीं होता। सच तो वही होता है, जो ईश्वर ने भाग्य में लिखा है।

समय अपनी चाल से चलता रहा और एक दिन दिनेश बी.एससी. की परीक्षा में प्रथम श्रेणी से पास हो गया। उसने अपने बाबू से कहा–वह अब प्रतियोगी परीक्षा में बैठने की तैयार करेगा। इस बारे में आपकी क्या राय है?बुधराम ने हँसते हुए कहा–'बेटा! हमलोग तो पढ़े–लिखे नहीं हैं।' जो पिता जी ने कह दिया, वह हमारे लिए ब्रह्मवाक्य होता था। कभी ना कहने की हिम्मत नहीं होती थी। उन्हीं के साथ प्रतिदिन खेती में वे जैसे कहते थे, वैसे काम करते रहते थे। आज भी उनके द्वारा बताया गया तरीका बहुत काम आता है। अब तुम समझदार हो गये हो, जो तुम्हें उचित लगे, वही करो। पर बाबू मैं जो करना चाहता हूँ, उसमें कुछ ज्यादा ही रुपयों की जरूरत पड़ेगी। बुधराम ने हँसते हुए कहा–तुम इसके लिए निश्चिन्त रहना। उसी दिन दिनेश ने माँ और बाबू जी की एक तस्वीर खिंचवाई। तस्वीर में वे बहुत खुश नजर आ रहे थे।

दिनेश बचपन से ही पायलट ऑफिसर बनने का सपना देखा करता था। वह कनकट्टे को धागे में बाँधकर उड़ाते हुए बहुत खुश हो जाता था। कभी मेले में जाता तो गैसवाले फुग्गे को खरीदता और उसके धागे को छोड़ देता। फुग्गा ऊपर ही ऊपर उड़ते जाता। जबतक वह फुग्गा आँख से ओझल नहीं हो जाता, दिनेश उसे देखते ही रहता और सोचता काश! वह दिन कब आयेगा, जब मैं भी आकाश में इस फुग्गे की भाँति उड़ता रहूँगा।

उड़ते हुए हवाई जहाज को देखकर पायलट ऑफिसर बनने की बात हमेशा उसके दिमाग में छाये रहता था। दिनेश दृढ़ निश्चयी था। उसने पायलट ऑफिसर का फॉर्म भर दिया। दो महीने के पश्चात् उसे पायलट ऑफिसर की ट्रेनिंग का पत्र मिला। वह खुशी से फूला नहीं समाया। उसने अपने बाबू से कहा–आज मेरा सपना सच होने की बारी आ गयी है। बेटे की आँखों में खुशी की चमक देख बुधराम ने कुछ नहीं पूछा और अपने जमीन का कुछ हिस्सा बेचकर उसे पचास हजार रुपये दे दिये। बेटा खुशी खुशी ट्रेनिंग के लिए चला गया।

गर्मी का दिन था। शाम को चौपाल में बैठे हुए हीरालाल ने कहा–बुधराम तुम यहीं पर गलती कर रहे हो। तुम्हारा बेटा हाथ से चला गया। बुधराम ने असमंजस की स्थिति को सँभालते हुए कहा–ये तुम क्या कह रहे हो भाई। मेरा बेटा आज तक कभी मेरी बात को नहीं टाला है। तुम अपने बेटे मंगलू को पहले देखो, जो एक ही गाँव में रहते हुए भी अलग घर बसा लिया है। इसपर हीरालाल ने कहा–उसे अलग रहने की सलाह मैंने ही दिया है, ताकि सास–बहू की लड़ाई–झगड़े से घर की सुख–शान्ति कोसों दूर हो गया था। अलग रहने से मंगलू अपनी जिम्मेदारी भी समझ रहा है और धीरे–धीरे अपनी तरक्की भी कर रहा है। मैं तो रोज शाम को मंगलू के घर जाता हूँ और अपने पोते मोहन को घुमाने भी ले जाता हूँ। तीज त्यौहार में मंगलू और मेरी बहू दोनों घर में आते हैं और दो–तीन दिन रहकर प्रेम से जाते हैं। भई, अपनी–अपनी समझ है, तुम्हारा बेटा गाँव का सबसे होनहार और ज्यादा पढ़ा लिखा है। कहीं उसे शहर की हवा लग गयी तो तुम्हारी दुर्गति न हो जाए। इसीलिए मैं तुम्हें समझा रहा था, आगे तुम्हारी मर्जी। बुढ़ापे की लाठी अपने ही बच्चे होते हैं। आँखों के सामने रहें, तो इससे ज्यादा दूसरा सुख नहीं है।

बुधराम ज्यादा देर तक चौपाल में नहीं बैठ सका और उठकर घर वापस आ गया। बार–बार हीरालाल की बातें उसके दिमाग में घूमने लगीं। परन्तु उसने इन बातों पर ध्यान ही नहीं दिया; सब मेरे बेटे की तरक्की को देखकर जलते हैं। उसकी बेटी ईला हँसते हुए कहती है–बाबू अपने गाँव में

हवाई अड्डा ही नहीं है। इसलिए भैया हवाई जहाज चलायेगा तो वह बड़े–बड़े शहरों में ही रहेगा। वहीं पर बैठी उसकी माँ इन बातों को सुनकर दु:खी होकर कहने लगी–'चील–बाज जैसे, बेटा आकाश में उड़ेगा तो कहीं कुछ हो न जाए। हे भगवान! उसकी रक्षा करना।' अरे पगली! बेटा थोड़े ही रहेगा, उसके साथ और भी लोग रहेंगे। अभी तो वह ट्रेनिंग करने गया है। जब उसे नौकरी मिल जाएगी, तब हमलोग भी हवाई जहाज में उड़ने जायेंगे। उसकी माँ कहती है–'ना बाबा ना! मैं तो नहीं जाऊँगी, मुझे बहुत डर लगता है।' बुधराम कहता है–'अरे! तुम लोग बुद्धू के बुद्धू ही रहे। चल बेटी! मेरे लिए खाना परोसना।'

दो वर्ष बाद ईला भी बी.ए. पास हो गई। बुधराम ईला के लायक लड़के की तालाश में एक गाँव से दूसरे गाँव घूमने लगा। बुधराम चाहता था कि लड़का कुछ पढ़ा–लिखा मिले, ताकि एक दूसरे को अच्छे से समझ सके। आखिर अर्जुनी गाँव में श्याम बाबू का लड़का मुरलीधर मिल ही गया। वह बी.कॉम. पास था। देखने– सुनने में ठीक था। बुधराम ने तुरन्त शादी के लिए हाँ कर दिया और अपने बेटे दिनेश को जल्द से जल्द आने के लिए खबर भी भिजवा दिया। बुधराम दिन–रात शादी की तैयारी में लगे रहा, लेकिन दिनेश का कोई खबर नहीं आया। इधर बारात दरवाजे पर खड़ी थी, तभी किसी ने जोर से आवाज दी– दिनेश भैया आ गये हैं। बुधराम ने सुना, तो उसे बड़ा अच्छा लगा। चलो, देर आये, दुरुस्त आये। धूमधाम से रश्मों–रिवाज के साथ बेटी ईला की विदाई हो गई। सब खुश थे। तभी दिनेश ने कहा–बाबू! अब मुझे भी जाने की आज्ञा दीजिए। बुधराम यह सुन अवाक् हो गया। मैंने आपके लिए मोबाइल फोन लाया हूँ। आप जब चाहो, मुझसे बातें कर लेना। मेरा ड्यूटी में जाना जरूरी है। यह कह दिनेश चला गया।

बुधराम को चक्कर आने लगा। कुछ भी कहने की स्थिति में वह नहीं था। मनी डॉक्टर साहब को बुलाकर लायी। डॉक्टर साहब ने बुधराम का अच्छे से जाँच किया और कहा–ये बहुत थक गये हैं। इन्हें आराम की जरूरत है। वे दो गोलियाँ देकर चले गये। दूसरे दिन बुधराम उठा, तो ऐसे लगा मानो वर्षों से वह बीमार है। घर से वह बाहर ही नहीं निकला। छह महीने बाद अचानक दिनेश का फोन आया। बाबू! मैंने यहाँ एक छोटा–सा घर खरीद लिया है। कुछ रुपये जमा भी कर दिया हूँ, परन्तु मुझे पन्द्रह लाख रुपये की सख्त जरूरत है। बुधराम ने ठीक है, कहकर फोन बन्द कर दिया। मनी बड़बड़ाने लगी। क्या रुपये भेजोगे? बुधराम ने कहा– बेटा तो अपना है। किसी दूसरे को तो नहीं दे रहा हूँ। जितना है, सब भेज दूँगा।

एक वर्ष यों ही बीत गया। एक दिन अचानक दिनेश को अपने सामने देख बुधराम की आँखों में चमक आ गई और खुशी से वह चहकने लगा। देखा गाँव वालो, आखिर मेरा बेटा दिनेश आ गया। तभी दिनेश ने कहा–मैं यहाँ रहने नहीं, आपलोगों को लेने आया हूँ। अगले हफ्ते मेरी शादी है। गाँव की जमीन वगैरह बेच दो और मेरे साथ चलो। क्या? अपना खेत, अपना गाँव को छोड़कर मैं नहीं जा सकता। दिनेश ने क्रोध में आकर कहा– आखिर आपलोग लकीर के फकीर ही बने रहोगे। मैं ईला बहन और मुरली जीजाजी को न्यौता देने जा रहा हूँ। यह सुनकर बुधराम की स्थिति मशीन की भाँति हो गई। कुछ भी कहने–सुनने की उसमें शक्ति नहीं रही। बुधराम बहुत ही गुमसुम और उदास रहने लगा। उसे लगने लगा वर्षों से मैंने जो मन में बेटे की शादी का सपना देखा था, वह चूर–चूर हो गया। ईला अपने भाई की शादी में शामिल होकर वापस आ गई। उसने बतलाया भाई की शादी खूब धूमधाम से हुई। उसने बतलाया कि भाभी जी खूब पढ़ी लिखी है। बुधराम ने ठीक है, कहकर करवट बदल लिया। बुधराम खेत में भी बहुत कम जाने लगा। न ही दिनेश का कोई फोन आता और न ही बुधराम उसे फोन करता। कभी–कभी शहर से कोई व्यक्ति गाँव में आते, तो दिनेश की बहुत तारीफ करते और कहते कि दिनेश बहुत बढ़िया ऑफिसर है। बुधराम यह सुनकर कभी खुश नहीं हुआ। बुधराम अपने ही धुन में रंगा रहता। समय किसी के लिए नहीं रुकता है। दिन, महीने और वर्ष व्यतीत होने लगे। मनी बीमार रहने लगी। बुधराम शिथिल हो गया। दिनेश का खिंचवाया हुआ फोटो को देखकर बुधराम सोचता, क्या मैं सचमुच कभी ऐसा था और वह रोने लगता था। मनी समझाती और वह भी दुखी रहती। बेटे की याद बुधराम को दिनों दिन मृत्यु के करीब ले जा रहा था, लेकिन बेटे को इसकी कोई चिंता नहीं थी। जब भी बुधराम उसे देखने की इच्छा प्रगट करता, तब दिनेश दस हजार रूपये का चेक भेज देता और कहता मुझे अभी छुट्टी नहीं मिल रही है। रुपये पाने पर बुधराम और भी दुखी हो जाता। दिनेश का एक असिस्टेंट ऑफिसर कमल बाबू था, वह लगातार एक हफ्ते से छुट्टी में था। दिनेश ने उसे डाँटकर कहा–यदि तुम ड्यूटी ज्वाइन नहीं करते हो, तो तुम्हारी ड्यूटी खत्म। इसपर उस ऑफिसर ने कहा–मेरी माँ बहुत बीमार है। उसकी सेवा करने के लिए घर में कोई नहीं है। इसलिए मेरा यहाँ रहना जरूरी है। माँ–बाप का रिश्ता ईश्वरी देन है। मैं उन्हें छोड़कर नहीं आ सकता। आप चाहें तो मुझे नौकरी से निकाल दें, पर माँ को अकेले नहीं छोड़ सकता। यह सुनकर दिनेश आश्चर्य में पड़ गया। यह कैसा लड़का है, जो अपनी नौकरी को छोड़ रहा है। बार–बार कमल की बातों से दिनेश को बचैनी होने लगी। उसे रात भर नींद नहीं आई। आँखों के सामने माँ और बाबू का हँसता हुआ चेहरा नजर आने लगा। दूसरे ही दिन दिनेश को ऐसा लगा, मानों वह उड़कर गाँव पहुँच जाये। इसीलिए उसने छुट्टी का एक आवेदन पत्र तैयार कर अपने टेबल पर रख दिया और अपनी पत्नी कुसुम को जल्द से जल्द गाँव जाने के लिए तैयार होने कहा। दिनेश विशेष बेचैनी अनुभव कर रहा था। गाँव पहुँचते ही दिनेश की तड़फ को देख कुसुम भी सोचने लगी। आखिर बात क्या है? पर दिनेश ने उसे कुछ नहीं बतलाया। चौथे दिन दिनेश गाँव पहुँचा। उसे बस स्टैण्ड में ही गाँव का हीरालाल मिल गया। उसने बतलाया तुम्हारे माँ और बाबू तुम्हारी याद करते–करते तीन दिन पहले ही परलोक सिधार गये। मैं तो तुम्हें खबर भी भिजवाया हूँ। गाँव में सन्नाटा–सा छाया हुआ था। ईला बहन और मुरली जीजाजी घर में ही थे। दिनेश अत्यधिक दुखी हो गया। घर वैसा ही नजर आया, जैसे वह छोड़कर गया था। सिर्फ माँ और बाबू कहीं नजर नहीं आ रहे थे। एक कोने में माँ और बाबू की तस्वीर रखी थी। दौड़कर दिनेश उस तस्वीर से लिपट गया। उसकी आँखों से अश्रुधारा अविरल गति से बहने लगी।

आलेख –

# राम काव्य परम्परा और साकेत

–डॉ. अवधेश चन्सोलिया,
दीनदयाल नगर, ग्वालियर,
म.प्र., 9425187203

रामकथा के संबंध में चतुरानन ने कहा है कि 'जबतक पहाड़ों में स्थिरता बनी रहेगी और नदियाँ बहती रहेंगी, तबतक रामायण की कथा समस्त लोक में प्रचलित और प्रचारित होती रहेगी। सर्वप्रथम राम प्रधान काव्य–दर्शन हम वाल्मीकि रामायण से करते हैं। इस महाकाव्य में राम महापुरुष के रूप में दृष्टिगत होते हैं, न कि देवत्व के रूप में। इस रामायण में केवल वैदिक देवी देवताओं को ही महत्त्व दिया गया है, जिसमें कार्तिकेय, कुबेर, उमा व लक्ष्मी प्रमुख हैं। इन्द्र को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है, वाल्मीकि रामायण में विष्णु एवं राम का कोई संबंध नहीं बताया गया है और न राम अवतारी के रूप प्रतिष्ठित हैं। वे साधारण मानव के रूप में ही जन्म लेते हैं।

इसके पश्चात् वायु पुराण तथा अध्यात्म–पुराण में राम के अवतारी रूप में कल्पना की गयी है। तत्पश्चात् चौदहवीं शताब्दी में रामानंदजी ने दास्य भक्ति के माध्यम से अपनी भक्ति भावना का प्रचार किया। राम कथा हिन्दी में ही नहीं अपितु मलयालम, तेलगू, कन्नड़, तमिल, बँगला, मराठी और गुजराती आदि लगभग सभी भारतीय भाषाओं में पायी जाती है। रामकाव्य की एक सुदीर्घ, सुम्पन्न और सुचिंतित परंपरा भारतीय साहित्य में विद्यमान है। लेकिन साहित्य की विविधता होते हुए भी उसकी मूलभूत स्थिति में कोई अंतर नहीं आया। सभी रामायणों में असत्य पर सत्य की विजय, आसुरी प्रवृत्तियों पर दैवी प्रवृत्तियों का प्रभाव एवं सत्य पर धर्म की प्रतिष्ठा प्रमुख मानवीय गुण रहे हैं। हाँ, कथा की गति में, चरित्र के चित्र में, संवाद की सरस योजना में, प्रसंगों की उद्‌भावना में, राम के रूप में अवश्य अंतर मिल जाते हैं। तुलसी ने ब्रह्म की सगुण सत्ता को ही स्वीकार किया है और वे लिखते हैं–

सगुनहि अगुनहिं नहिं कुछ भेदा।
उभय हरहिं भव संसय खेदा।।

तुलसी के पश्चात् इस परंपरा के केशव दास आते हैं, उनकी रचना 'रामचंद्रिका' में भगवान राम से संबंधित अनेक स्तोत्र हैं। 'रामचंद्रिका' में आचार्यत्व प्रदर्शन के कारण भक्ति दर्शन आदि के आदर्शों की उपेक्षा कर दी गयी है। केशव की परंपरा में ही रहीम भी है। रहीम के अतिरिक्त अग्रदास एवं नाभादास भी रामभक्त परंपरा के अंतर्गत ही आते हैं। सेनापति भी इसी परंपरा के कवि हैं। "सेनापति के संबंध में राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी का कथन है कि वे राम भक्ति के कवि थे। 'चौथी तरंग' रामायण वर्णन तथा 'पाँचवीं तरंग' राम रसायन वर्णन में उन्होंने स्पष्ट ही रघुनाथजी की अग्र खंडन खड़ाऊँ की वंदना की है तथा पूर्ण पुरुष बतलाया है।"[1]

सहज राम ने भी रामचरित्र पर 'रघुवंश दीपक' नामक काव्य रचा है। तुलसी की भाँति इन्होंने भी सभी देवी–देवताओं, तीर्थस्थलों आदि की स्तुतियाँ की हैं। वेद द्वारा राम की स्तुति द्रष्टव्य है–

"जयति रघुवंश मणि, अवतंश संसार दुःख दलन श्रीखन करुणनिधान मोहि मद कोह कामादि करि केशरी भजति ब्रह्मादि सुर वृशष–समान।"[2]

जयति रघुवीर रनधीर तूणीर कट पीत बसन का धनुष बान। मदन सत कोटि छबि छोटि छणदा त्व बदन सुख सदन सुषमा निधान।

इस तरह रघुवंश दीपक सहजराम की भक्ति भावना का उत्तम उदाहरण कहा जा सकता है। लेकिन रीतिकाल में यह भक्ति भावना समाप्त हो गयी। द्विवेदी युग में रामचरित्र उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त ने रामकाव्य परंपरा को आगे बढ़ाया। रामचरित्र उपाध्याय के राम, ईश्वरीय अवतार हैं। इनके राम के संबंध में डॉ. प्रतिपाल सिंह लिखते हैं–'वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं।'[3]

गुप्त के 'साकेत' का विवेचन करते हैं तो यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इसका मूल उद्देश्य विश्व बंधुत्व ही है और राम का ईश्वरत्व विश्व व्यापकता में निहित है। इस संबंध में एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

'राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं, सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो, मन तुम में रमा करे।'

उनके राम ने 'कार्य ही पूजा है' के सिद्धांत को प्रतिपादित करने हेतु ही जन्म लिया है–

भव में नव वैभव प्राप्त कराने आया।
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग को लाया।
मैं भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

गुप्तजी 'साकेत' के माध्यम से राष्ट्रीयता का मंत्र भारतवासियों को देते हैं–'क्षत्रिय सुनो, अब तो सुनो, कुयश की कालिमा को मेट दो। निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो।' गुप्तजी ने वस्तुतः भारतीय संस्कृति को विजयी दिखाकर उन्होंने भारतीय का उत्साह बढ़ाया है। साकेत के राम, मनुष्य में देवत्व को समझाते हुए लक्ष्मण से कहते हैं–'पर हम क्यों प्राकृत पुरुष आपको मानें। निज पुरुषोत्तम की प्रकृति क्यों न पहचानें।'

इससे स्पष्ट होता है कि राम यहाँ मनुष्य और देवत्व के सम्मिश्रित रूप हैं।

गुप्तजी ने चित्रकूट में कैकेयी से पश्चात्ताप कराकर और कैकेयी से यह कहलाकर कि राम 'यह सच है कि अब लौट चलो तुम घर को।' 'साकेत' को मौलिकता प्रदान की है। यह पश्चात्ताप करती हुई कहती है कि "छल किया भाग्य ने, मुझे अयश देने का, बल दिया उसी ने भूल मान लेने का।' पश्चात्ताप की इस ज्वाला में कैकेयी का पंकिल हृदय धूल जाता है और यही आज का युगधर्म है। वाल्मीकि की कैकेयी भी तुलसी की कैकेयी की तरह मौन नहीं रहती, वह भी पश्चात्ताप की अग्नि में जलकर कुंदन बन जाती है।"[4]

डॉ. वेदप्रकाश शास्त्री के अनुसार–'उन्होंने भारतीय सभी मान्यताओं के प्रति आस्था प्रकट की, उनका निर्वाह किया और इन सबके द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि भारतीय मान्यताओं का जितना निर्वाह साकेत में हुआ है, उतना अन्य नहीं।'[5]

साकेत की दूसरी मौलिक उद्‌भावना है–उर्मिला का विरह वर्णन, न वाल्मीकि ने उर्मिला पर यथेष्ट ध्यान दिया और न तुलसी ने। वाल्मीकि रामायण में सीता पर अधिक ध्यान दिया गया है, जबकि गुप्तजी ने उर्मिला के विस्तृत चरित्रांकन पर ही विशेष ध्यान दिया। वास्तव में साकेत का प्रारंभ और अंत उर्मिला से ही होता है। यद्यपि उनके राम गृहस्थ तो हैं, किन्तु उनमें किसी प्रकार के मानवोचित औचित्य का सीमोल्लंघन नहीं हुआ। वे मनुष्य को

ही देवता बना देना चाहते हैं। साकेत में करुण और शृंगार दो ही रस प्रधान है। प्रकृति चित्रण आलंकारिक रूप में ही हुआ है।

साकेत के अतिरिक्त अयोध्या सिंह उपाध्याय का 'वैदही वनवास' इस परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें भौतिकवाद की निंदा की गयी है और यह बताया गया है कि स्वार्थ भावना वैषम्य उत्पन्न करती है–

भौतिकता में यदि है जड़ता वादिता,
आध्यात्मिकता मध्य चिन्मयी शक्ति है,
आध्यात्मिकता का प्रचार कर्तव्य है,
जिससे यथासमय भव का हित हो सके।

इस ग्रंथ में उपाध्यायजी ने राम के द्वारा लोकोपवाद की समस्या पर सीता का परामर्श लेकर अपने हृदय की दुर्बलता के कलंक को दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

इसी शृंखला में डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र का एक और ग्रंथ 'साकेत संत' है। इसमें भरत को नायक बनाकर कथानक को आगे बढ़ाया गया है। 'साकेत संत' में आध्यात्मिकता को प्रमुखता दी गयी है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि इन सभी रामकथा ग्रंथों में गुप्तजी का 'साकेत' अपनी भावुकता एवं कल्पना के बल पर बहु प्रशंसित और लोकप्रिय है। बहु प्रतीक्षित उर्मिला के चरित्र के उन्होंने कलात्मक ढंग से उभारा है।

स्मृति संकेत–

1. रामचरित्र पर पहली रामायण है–वाल्मीकि रामायण, जिसमें राम मानव के रूप में चित्रित है।
2. वायुपुराण एवं अध्यात्मपुराण में राम अवतारी रूप में अंकित हुए।
3. तुलसी ने सेव्य–सेवक को श्रेष्ठता प्रदान की। तुलसी के राम में मनुष्य, ईश्वर और ब्रह्म का समन्वय मिलता है।
4. केशव की रामचंद्रिका में पांडित्य का प्रदर्शन है।
5. रीतिकाल में शृंगारिकता की प्रवृत्ति अधिक है।
6. मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत में उर्मिला को केन्द्र में रखा।
7. 'हरिऔध' के वैदेही वनवास में भौतिकवाद की निंदा है।
8. गुप्तजी का साकेत भावुकता एवं कल्पना के बल पर बहु प्रशंसित है।

संदर्भ ग्रंथ :


1. डॉ. हनुमान दास, गुप्त मैथिलीशरण गुप्त और साकेत, मंजु प्रकाशन, लखनऊ, 1970
2. डॉ. अर्जुन सत्पथी, मधुसूदन साहा, राष्ट्रीय चेतना के कवि– मैथिलीशरण गुप्त, पराग प्रकाशन, दिल्ली, 1987
3. डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय, अतीत के हंस, मैथिलीशरण गुप्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1988
4. देशराज सिंह भाटी, साकेत का नवम सर्ग, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, 1988
5. साकेत, मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव झाँसी, संवत् 2043 वि.
6. दान बहादुर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त और उनका साहित्य, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1969
7. कमल कान्त पाठक, मैथिलीशरण गुप्त व्यक्ति और काव्य, रणजीत प्रिंटर्स दिल्ली, 1960


कविता

## यह कैसा है सम्मान बंधु

डॉ. कमलेश द्विवेदी
कानपुर, 9415474674

यह कैसा है सम्मान बंधु यह कैसा है सम्मान बंधु
हमको ही सारे खर्चों का करना होगा भुगतान बंधु
भीतर–भीतर हम मेजबान बाहर–बाहर मेहमान बंधु
आने–जाने, रहने–खाने
पंजीकृत नाम कराना है
इस हेतु शुल्क भरना होगा
कुछ खर्चे होंगे आकस्मिक उनका भी है अनुमान बंधु
अपने ही खर्चे पर अपना हम करवायें गुणगाण बंधु
यह कैसा है सम्मान बंधु यह कैसा है सम्मान बंधु
मिलना है एक प्रशस्ति–पत्र
गेंदे के फूलों की माला
उसके सँग होगा अंगवस्त्र
छ: इंची चौड़ाई वाला
इतने की खातिर कितनों का लेना होगा अहसान बंधु
जो तेज न दीपक सा उसको तुम कह दोगे दिनमान बंधु
यह कैसा है सम्मान बंधु यह कैसा है सम्मान बंधु
सच पुछो तो सम्मान नहीं
ये अच्चा–खासा है धन्धा
कुछ सरकारी संस्थानों से
कुछ धनवानों से लो चन्दा
थोड़ा सा करके खर्च, शेष पी जाओ सब अनुदान बंधु
यों करा–करा कर आयोजन तुम ही होगे धनवान बंधु
यह कैसा है सम्मान बंधु यह कैसा है सम्मान बंधु
इन तथाकथित सम्मानों से
कितनी इज्जत बढ़ जायेगी
इक अच्छी कविता ही हमको
सच्ची शोहरत दिलवायेगी
सोचो क्या ऐसे थे तुलसी–सूरा–कबिरा–रसखान बंधु
ऐसे होते तो हिन्दी का कितना होता उत्थान बंधु
यह कैसा है सम्मान बंधु यह कैसा है सम्मान बंधु।

पुस्तक चर्या

# विविध चिंतनों का माध्यम हिन्दी

**डॉ. शिव प्रसाद शुक्ल**
विद्यानगर, आणंद, गुजरात
मो०–9409214619

इक्कीसवीं शताब्दी के समद्रष्टा समीक्षक डॉ. सुशील कुमार वर्मा की प्रकाशित किताब 'चिन्तन की विविध आयाम' 160 पृष्ठों एवं 24 उपशीर्षकों में विविध चिंतनों पर विन्यस्त है। विविधताओं को व्यक्त करने के लिए हिन्दी भाषा को ही माध्यम बनाया गया है। जनसंख्या आधारित बोलनेवालों की संख्या मीडिया की मजबूरी या भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 से 351 तक निरूपित हिन्दी राजभाषा की स्थिति के कारण ऐसा हुआ, जो भी हो भारतीय फिल्म धारावाहिक उद्योग ने हिन्दी का प्रचार–प्रसार वैश्विक स्तर पर किया है। दूसरी ओर आतंकवादियों को समझने के लिए विश्व के देशों को हिन्दी सीखनी पड़ रही है। सामान्यतया आतंकवादी, नक्सलवादी एवं अलगाववादियों आदि संगठनों की भाषा हिन्दी ही है। मीडिया, बाजार, बिग बाजार, डीमार्ट, धारा वाहिक, रंगमंच, फिल्म एवं राजनीति की भाषा हिन्दी बन गयी है। इसलिए विश्व मंच पर हिन्दी का परचम लहरा रहा है, परन्तु हमारे देश के नेताओं एवं नौकरशाहों की गुलाम मानसिकता बाहर जाने पर अंग्रेजी बोलने से प्रकट होती है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग हर वर्ष अंग्रेजी–हिन्दी शब्दकोश हर क्षेत्र का प्रकाशित करता है, परन्तु उसमें संस्कृतनिष्ठ शब्द ठूँस–ठूँसकर भरे होते हैं। इसीलिए कंप्यूटर की जगह एक संगणक एवं रेल की जगह पर लौहपथगामिनी का प्रयोग लोग कर ही नहीं रहे हैं। अंग्रेजी के संक्षेपण ज्वअमतदउमदज वप्दिकपं कोञ्ण्व्ण्प् बोलना भी अनेक भ्रम पैदा करता है; क्योंकि एक ही संक्षेपण के कई अर्थ निकलते हैं। जन संचार माध्यमों में जिस हिन्दी का प्रयोग हो रहा है, वह काफी सराहनीय है, परन्तु टी.वी. के पर्दे पर लिखते समय उसकी मात्रा एवं व्याकरण का पूरा ध्यान रखा जाए। डॉ. शर्मा ने 'भाषाई मीडिया : हाशिये की आवाजें' में मीडिया की व्यापकता, हूबहू दलितों, आदिवासियों, स्त्री विमर्शवादियों में आती तब्दीलियों को सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक परिप्रेक्ष्य में उभारा है।

यों देखा जाए तो 'कार्यालयी अनुवाद' भी तकनीक आधारित मामला है। इसलिए केन्द्र एवं राज्य सरकार के प्रत्येक कार्यालयों में संवैधानिक प्रविधियों के आधार पर सम्प्रेषणीय हिन्दी का प्रयोग अधिकारी, लिपिक एवं अनुवादक कर रहे हैं या नहीं। 'हिन्दी–शिक्षण और विविध ज्ञानानुशासन' की उपलब्धि एवं सीमाओं को समझनेवाले पूरा लाभ उठा रहे हैं, परन्तु जो लोग हिन्दी एवं अंग्रेजी के वैश्विक परिप्रेक्ष्य को नहीं समझ पाये हैं, वे लोग भ्रष्टाचार, प्रदेशवाद, दलित, पिछड़े और आदिवासी के नाम पर आज भी रो रहे हैं। केन्द्रीय, नवोदय, मिलिटरी, सैनिक विद्यालयों के तर्ज पर अंग्रेजी एवं हिन्दी माध्यम के विश्वविद्यालय स्थापित होने चाहिए। कोई भी यह तर्क दे सकता है कि जब इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली अंग्रेजी एवं हिन्दी माध्यम से शिक्षा दे रहा है, तो राज्य एवं डीम्ड विश्वविद्यालयों में यह माध्यम थोपना नहीं चाहिए। अहिन्दी भाषी हिन्दी विभागों के आचार्यगण उस प्रदेश के साहित्य को अनुवादक के माध्यम से आगे लाने का कार्य करेंगे तो हिन्दी और भी समृद्ध होगी। साहित्य अकादमी नई दिल्ली, भारतीय अनुवाद परिषद्, नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इंडिया, भारतीय भाषा संस्थान मैसूर आदि कार्यरत है, फिर भी भारतीय साहित्य विपुल मात्रा में अनुदित होकर हिन्दी में नहीं आ रहा है। डॉ. सुशील कुमार शर्मा की किताब 'चिंतन के विविध आयाम' के सभी लेख काफी विचारणीय एवं सम सामयिक समस्याओं से जुड़े हैं। इसी क्रम में 'शिक्षा में भाषा : भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ', 'भारत में दूरस्थ शिक्षा', पूर्वोत्तर भारत : स्वैच्छिक हिन्दी संस्थाएँ', 'पूर्वोत्तर भारत : हिन्दी का भविष्य', 'प्रयोजनमूलक हिन्दी और वैज्ञानिक लेखन', 'अरुणाचल का धार्मिक लोक साहित्य', 'आतंकवाद', 'नक्सलवाद', 'पूर्वोत्तर भारत : अलगाव वाद', पूर्वोत्तर भारत : जैव विविधता', 'खनिज स्रोत और पर्यावरण', 'हिन्दू मुस्लिम एकता', 'कामकाजी महिलाएँ : समस्याएँ और निदान', 'संयुक्त परिवारों का विघटन और बच्चे' एवं 'मालवी लोकगीतों में राष्ट्रीयता' आदि लेखों से डॉ. सुशील कुमार शर्मा की जनप्रतिबद्धता का पता चलता है। उन्होंने हिन्दी साहित्य की व्यापकता एवं साहित्यिकता का ध्यान रखते हुए हिन्दी की महत्ता को रेखांकित किया है। सामान्यतया हिन्दी एक ऐसी भाषा है, जो तमाम विरोधों के बावजूद भी हर क्षेत्र में अपना पाँव पसार रही है। इसीलिए भारतीय गृहमंत्रालय के अंतर्गत कार्यरत राजभाषा प्रकोष्ठ हर स्तर एवं क्षेत्र के कार्यालयों के कार्यों का विवरण हिन्दी में मँगवाता है। इसीलिए सीडेक के माध्यम से फोन्ट की असुविधा को दूर करने के लिए यूनीकोड खोज निकाला है। यहा तक कि 'तपजम जवे चमंबी' एवं 'चमंबी जवू तपजम' यंत्र भी खोज लिया गया है। 1975 से लेकर 2015 तक 10 विश्व हिन्दी सम्मेलन आयोजित हो चुके हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ पर हिन्दी भाषा को लेकर दबाव बनाया जा रहा है। तकरीबन विश्व का हर देश मजबूरी बस हिन्दी की शिक्षा दे रहा है; क्योंकि आतंकवादी हिन्दी बोलते हैं।

भारत में जितना खौफनाक माहौल नहीं सर्जित होता, फिर भी राजनेता, मीडिया एवं लेखक खौफनाक माहौल का वर्णन हिन्दी में ही करते हैं। हिन्दी के लोकगीत, राष्ट्रगीत, फिल्मीगीत एवं संगीत प्रत्येक व्यक्ति को आकर्षित करते हैं। केन्द्रीय, नवोदय, मिलिटरी एवं सैनिक स्कूल भारत एवं भारत के बाहर हिन्दी एवं अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा दे रहे हैं। लेकिन रजवाड़ों की तरह भारत का 14 से 29 राज्यों में विकेन्द्रीकरण प्रशासन के लिए अच्छा हो सकता है, परन्तु विद्यार्थियों के भविष्य के लिए काफी नुकसानदायक सिद्ध होगा। लेकिन कुछ लोगों के प्रायोजित मतों के चलते भाषायी विवाद गहराता जा रहा है। डॉ. शर्मा इन विडम्बनाओं को अपनी किताब 'चिन्तन के विविध आयाम' में गंभीरता से उठाया है। इस दृष्टि से देखा जाए, तो सहज सम्प्रेषणीय भाषा में डॉ. शर्मा ने समयोचित भ्रमों को दूर करने की अच्छी पहल इस किताब के लेखों से की है। वे हिन्दी के व्यापकता की चर्चा करते हुए क्षेत्रीय भाषा एवं संस्कृति की कभी भी अवगणना नहीं करते हैं। यों देखा जाय तो प्रकारांतर से इस किताब में दयानंद सरस्वती, महात्मा गाँधी, सत्यनारायण मोटूरि, काका साहब कालेलकर, सुभाषचंद्र बोस, सुब्रह्मण्यम् भारती, बिनोवा भावे के हिन्दी विचारों को वैश्विक परिप्रेक्ष्य में उद्घाटित करते हैं। वे हिन्दी की सैद्धांतिक विडंबनाओं के बजाय लोक व्यवहार की उपलब्धि एवं सीमा को परखते एवं लिखते हैं। इसलिए 14 सितम्बर हिन्दी दिवस के साथ विश्व के अलग–अलग देशों में कार्यरत

भारतीयों को भी स्वाभिमान पूर्ण ढंग से हिन्दी का प्रयोग पर्वों– त्यौहारों एवं संस्कृतियों के संरक्षण में करना होगा। हिन्दी में कोमला, परुषावृत्ति के साथ लय, तुक, यति, छन्द, अलंकार, ध्वनि, अभिनय, औचित्य, रीति एवं रस आदि का प्रयोग सहज ही होता है। इसलिए दुष्प्रचारों में पड़े बिना सांस्कृतिक विरासत को हिन्दी के माध्यम से बचाना हम सबका परम कर्तव्य है। डॉ. सुशील कुमार शर्मा ने अपनी किताब में इक्कीसवीं शताब्दी की तमाम चुनौतियों को बेबाक ढंग से उभारा है। इसलिए भारत की संघात्मक शिक्षा नीति को समझकर विद्यार्थियों को तैयार करना होगा। डॉ. शर्मा एक ऐसे विचारक एवं शोध अध्येता हैं, जो हिन्दी की विशिष्टता को बहुत बारीकी से जानते हैं। डॉ. शर्मा का विचार ध्यातव्य है–'देश के हिन्दीतर राज्यों में हिन्दी अभी भी लंगड़ा रही है। उसे स्वस्थ और दौड़ने के योग्य बनाने के लिए पर्याप्त सर्जरी की आवश्यकता है। तभी यह घर की देहरी फलांग कर विश्वमंच की ओर दौड़ लगाएगी।' (आत्मकथ्य से) डॉ. सुशील कुमार शर्मा के व्यक्तित्व की तरह उनकी भाषाशैली भी काफी सुगम, सहज एवं बोधगम्य है। आजकल के तथाकथित हिन्दी आलोचक ऐसे शब्दों के प्रयोग करते हैं, जिससे पारिभाषिक शब्दावलियों में खंगालना पड़ता है। इससे सहृदयों की अभिरुचि हिन्दी पढ़ने में घटी है। डॉ. शर्मा सहज, स्वाभाविक एवं संप्रेषणीय भाषा का प्रयोग करके राष्ट्रीयता को ही वैश्विक परिप्रेक्ष्य में अच्छी तरह से उभारा है। पूर्वोत्तर के आदिवासियों की सांस्कृतिक धरोहर को गीतों के माध्यम से भी अच्छी तरह समझा जा सकता है–

डयू मिलो। गुबुर सियो
दोम्पोङ दुमी मोना
आरूम आगोन ताकाम बुलुम
सियुम के कारान दोमिन उमी सो
आराम गिदिएम रिपी मिगी दाकमिका
नोलू बुलू सिपे दोरिक तिरिक सिलोटूका
मिन्यी मिसो सिपे गाम्सी गाम्पाक कामायिका।
(अरुणाचल के त्यौहार : डॉ. धर्मराज सिंह, पृ. 61)

अर्थात् हे हमारे मालिक! जो मनुष्यों में बीमारी फैलाते हैं, उनको नष्ट करो। हम आपकी पूजा करते हैं। हमारी पूजा स्वीकार करो। आप प्रसन्न हो और संतुष्ट हो, आप तमाम रोगों से मुक्त करो, यह हमारी कामना है। भारत के मध्यवर्ती क्षेत्रों की पूजा रुपये कमाने का धंधा बन गयी है, तो नागालैंड एवं पूर्वोत्तर के राज्यों में भी पर्वों का बाजारीकरण प्रारंभ हो गया है।

फिलहाल आदिवासी जल, जंगल एवं जमीन को बचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। डॉ. शर्मा मेघालय, मिजोरम के साथ मध्यवर्ती एवं उत्तरवर्ती भारत के विभिन्न जगहों पर रहते हुए, वहाँ की संस्कृति, सभ्यता, लोकगीत, पर्व, त्यौहार एवं लोक विश्वासों को काफी नजदीकी से देखा है। उनकी इस किताब से यह ध्वनि भी निकलती है कि पूर्वोत्तर की विविधता को समझे बिना विश्व को समझना कठिन है। इसलिए 'चिंतन के विविध आयाम' किताब की उपादेयता अपने आप सिद्ध होती है। फिलहाल किताब को एक बार पढ़ें, तब पता चलेगा। 'बात बोलेगी हम नहीं, भेद खोलेगी बात ही।'

कविता–

## मेरे गाँव के लोग

**रवीन्द्र कंचन**
घरमोड़ा, रामगढ़ (म.प्र.)

मेरे गाँव का आदिवासी
भोकलू उराँव
चोरी करना नहीं जानता था
किन्तु
अब मेरे गाँव में थाना खुला
भोकलू उराँव चोरी करना सीख गया
मेरे गाँव में किसान
जमीन के लिए लड़ना न सीखे थे
मगर पटवारी के आते ही
जमीन के लिए झगड़ने लगे हैं
मेरे गाँव का लकड़हारा मंगरु
जंगल से लकड़ियाँ नहीं चुराता था
परन्तु नाकेदार के आते ही
जंगल से लकड़ी चुराना
उसका पेशा हो गया है
मेरे गाँव के जवान लड़की–लड़के
अनैतिक संबंध से भय खाते थे
किन्तु परिवार नियोजन के लिए
निरोध बँटते ही
अनैतिक संबंध उसकी दिन–चर्या
हो गई है
मेरे गांव के लोग पहले
आपस में मिल–जुल कर रहा करते थे
किन्तु
स्वामीजी के प्रवचन के बाद
अब वे एक–दूसरे के खून के
प्यासे हो गये हैं।

आलेख :

# स्वामी विवेकानंद और उनके संदेश

डॉ. विजय कुमार वर्मा,
भागलपुर (बिहार)

विवेकानंदजी की याद आते ही एक ऐसे तेजस्वी व्यक्ति का चित्र आँखों में उभर आता है, जिसके शरीर पर वस्त्र तो हिन्दू संन्यासी के हैं, पर जिसके अंदर में समूची मानवता के लिए दर्द भरा हुआ है। मनुष्य ही उसका एकमात्र लक्ष्य है। मनुष्य की जड़ता का नाश करना ही उसका एकमात्र आदर्श है।

स्वामी विवेकानंद की प्रतिभा बहुमुखी थी। चालीस वर्ष से भी कम आयु तथा लगभग दस वर्ष के अपने कार्यकाल दौरान वे अपने संपूर्ण जगत और विशेषकर भारत को जो कुछ दे गये, वह आगामी अनेक शताब्दियों तक मानवता की थाती बनी रहेगी। अपने जीवन के संध्या वेला में उन्होंने स्वयं भी तो कहा था कि 'जो कुछ कर चुका हूँ, वह पन्द्रह सौ वर्षों के लिए यथेष्ट है।'

वे उस ऊँचाई के मनुष्य थे, जहाँ से सभी धर्म सत्य समान दीखते हैं, जहाँ विवाद और शास्त्रार्थ की आवाज नहीं पहुँचती है, जहाँ धर्म अपनी राजनीतिक एवं सामाजिक गंध को छोड़कर केवल धर्म के रूप में उपस्थित रहता है। आजीवन वे बालकों के समान सरल और निश्छल रहे। आजीवन उस मस्ती में डूबे रहे, जिसके दो–एक छींटों से ही जन्म–जन्म की तृष्णा शांत हो जाती है। हिन्दू धर्म में जो गहराई और माधुर्य है, वे उसकी प्रतिमा थे। सिर से पाँव तक ये आत्मा की ज्योति से परिपूर्ण थे। आनंद पवित्रता और पुण्य की प्रभा उन्हें घेरे रहती थी।

ऐसे परमहंस रामकृष्ण के शिष्य थे विवेकानंद। उसी आदर्श के प्रचारक बनकर वे जीवनभर देश–विदेश में घूमते रहे। वे उदार भारतीय धर्म के निपुण व्याख्याता थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति का नाम उज्ज्वल किया और देशवासियों के हृदय में स्वधर्म और स्वदेश के लिए सात्त्विक स्वाभिमान उत्पन्न करते हुए विश्व मानव बनने की प्रेरणा दी। उन्होंने कहा–'मुनष्य निर्माण करना ही हमारा धर्म है।'

श्रीरामकृष्ण परमहंस के महासमाधि के बाद स्वामीजी करीब सात वर्ष भारत के विभिन्न भागों का भ्रमण करते रहे। उन्होंने देखा कि सभी लोग छुआछूत और जाति–पाँति आदि को ही धर्म मानते हैं। यह देखकर उनका हृदय बड़ा दुःखी था। स्वामी जी भ्रमण करते–करते कन्याकुमारी पहुँचे। वहाँ उन्होंने कन्याकुमारी देवी के दर्शन किये। वह मंदिर बहुत बड़ा है। वे समुद्रतट से तैरकर कुछ दूर स्थित एक चट्टान पर जा पहुँचे। वहाँ बैठकर उन्होंने बिना कुछ खाये–पिये तीन दिन और तीन रात (25,26 एवं 27 दिसम्बर, 1892) ध्यान किया। वहीं से उन्हें प्रेरणा मिली कि तुम पश्चिम को जाओ। पश्चिम जाकर वेदान्त का प्रचार करो। दक्षिण भारतीय युवाओं एवं राजाओं के सहयोग से स्वामीजी 11 सितम्बर, 1893 में आयोजित विश्वधर्म सम्मेलन में भाग लेने निकल पड़े।

विश्वधर्म सम्मेलन में उनका परिचय नहीं के बराबर था, लेकिन जिस समय वे उस सम्मेलन में बोलने के लिए खड़े हुए और उनके मुख से ये शब्द निकले–'अमेरिका के प्यारे भाई– बहनो!' तो दो मिनट तक तालियों की गड़गड़ाहट कानों की झिल्ली फाड़ती रही। ऊपर से दिखनेवाले उन सीधे–सादे शब्दों में कुछ भी तो जादू नहीं है, लेकिन उनके पीछे आत्मा की जो ध्वनि थी, उसने मानो उनके वास्तविक अर्थ को स्पष्ट कर दिया। धार्मिक एकता की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा–'यदि यहाँ पर उपस्थित किसी व्यक्ति को यह आशा है कि यह एकता किसी एक धर्म की विजय और दूसरे धर्मों के विनाश से पैदा होगी, तो मैं उससे कहता हूँ–बन्धु! तुम्हारी आशा असंभव है। क्या मैं चाहता हूँ कि ईसाई हिन्दू हो जाए?भगवान ऐसा न करे। क्या मैं चाहता हूँ कि हिन्दू या बौद्ध ईसाई हो जाए?भगवान ऐसा न करे। ईसाई को हिन्दू या बौद्ध अथवा हिन्दू या बौद्ध को ईसाई नहीं होना है; परन्तु हर एक को यह प्रयत्न करना है कि वह दूसरे की भावना को आत्मसात कर ले और फिर अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित रखते हुए स्वयं अपने विकास नियम द्वारा विकसित हो।

विवेकानंद के कंठ से निकलनेवाली यह आवाज किसकी आवाज थी?यह भारतीय संस्कृति की आवाज है। भारतीय संस्कृति की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। एक है व्यापक सहिष्णुता अर्थात् उदारता अर्थात् दूसरे के दृष्टिकोण को समझना और दूसरी है सार्वभौतिक दृष्टिविन्दु अर्थात् जो नया है, उसे आत्मसात करके अपना बनाना। हिन्दू धर्म का विकास इन्हीं दो विशिष्टताओं का परिणाम है। इसलिए तो विश्वधर्म सम्मेलन में उनके ये शब्द निकले–'अमेरिका के प्यारे भाई–बहनो' और इसीलिए उनका भाषण सुनकर 'द न्यूयार्क हेरल्ड' ने लिखा था–'विश्वधर्म सम्मेलन में स्वामी विवेकानंद नाम के एक महापुरुष आये हैं, जो धर्म सम्मेलन के रीढ़ हैं।

उस वक्त उन्हें इतनी शोहरत, इतनी प्रसिद्धि मिली, जितनी कि अधिक–से–अधिक किसी को मिल सकती है। पर उनका दिल तो भारत के गरीबों के लिए रोता था। उन्हें जो कुछ पैसे या डॉलर मिलते, वह सब वे देश के गरीबों के लिए भेज देते। उन्हीं दिनों जब उनकी शोहरत सबसे ऊँची थी, उनकी प्रसिद्धि अमेरिका में, पश्चिम के देशों में और विश्व के कोने–कोने में फैल गयी थी, तो एक रात अपने देश की गरीबी की याद कर बहुत रोये और रो–रोकर जगदम्बा से कहा–'माता तू मुझे रास्ता दिखा, जिससे मैं अपने देश के गरीबों की गरीबी दूर कर सकूँ। तू मुझे उपाय बता, ताकि मैं गरीबों की सेवा कर सकूँ।' उनसे किसी ने पूछा कि ईश्वर कहाँ है?उन्होंने गरीबों, दुखियों और पीड़ितों की तरफ इशारा करते बताया कि ईश्वर यहाँ है, इनमें है, सभी में ईश्वर है। दरिद्र नारायण–यह नया शब्द उन्होंने गढ़ा और उसका अर्थ हमें बताया। उन्होंने हमें सबक दिया कि दुःखी की सेवा करना, गरीब की सेवा करना ही ईश्वर की पूजा करना है और अपनी सारी उम्र वे यही करते रहे। उन्होंने जिस भाव की सीख दी, वह हमलोगों के जीवन में हमारी नीतियों में कूट–कूटकर भरी हुई है।

स्वामीजी का दर्शन समय–सापेक्ष नहीं था। ऐसी बात नहीं कि उसकी केवल अपने समय में ही उपयोगिता रही हो। वह सार्वभौमिक सत्य है, सार्वकालिक सत्य है। सब देशों में सब कालों में उनके संदेश की महिमा अक्षुण्ण रहनेवाली है। यह हमारे ऊपर निर्भर करता है कि अपनी–अपनी पात्रता के अनुरूप हम उसको कितना ग्रहण कर पाते हैं। स्वामीजी ने काफी कुछ लिखा है, बहुत–से व्याख्यान दिये हैं। उनका साहित्य दस खंडों में संकलित हैं, पर उनके सारतत्त्व उन्होंने एक सूत्र में व्यक्त किया है। वह सूत्र मैं बारंबार दुहराता रहता हूँ–'आत्मनो मोक्षार्थ जगहिताय च।'

स्वामीजी का सारा जीवन इस राष्ट्र देवता की आराधना और चिंतन से ओत–प्रोत है। वे इस समग्र राष्ट्र को जागृत करना चाहते थे और उसी में जीवनपर्यन्त लगे रहे। उनका चिंतन आंशिक या एकपक्षीय नहीं था। उस राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को आंतरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से वे मजबूत देखना चाहते थे, तभी तो उन्होंने जहाँ विचारों की उच्चता धर्म और आध्यात्मिकता पर बल दिया, वही देश में गरीबी की समाप्ति को भी आवश्यक बताया। देश के युवकों को उन्होंने ज्ञान के साथ शारीरिक बल

अर्जित करने के लिए प्रेरित किया। इसी उद्देश्य से रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जिससे दान के प्रचार के साथ ही समाज–सुधार तथा समाज को स्वस्थ और बलवान बनाने का कार्य भी चल सके।

देश की आज की परिस्थिति स्वामीजी के विचारों एवं चिंतन की आवश्यकता को और भी अधिक सिद्ध करती है। आज देश चारो ओर से शत्रुओं से घिर हुआ है। देश की सीमाएँ आक्रान्त है। भारत के नंदन वन काश्मीर पर तथा मुकुट हिमालय पर शत्रु की निगाहें लगी हैं। विदेशी शक्तियाँ देश में आंतरिक संकट पैदा करने में सचेष्ट है। विदेश के प्रति वफादारी रखनेवाले तत्त्व इस में अराजकता हिंसा और अव्यवस्था फैलाने में सक्रिय है। दूसरी ओर हमारे देशवासी व्यक्तिगत स्वार्थ पदलिप्सा व्यक्तिगत लाभ अथवा अहंकार से ग्रस्त है। देशाभिमान से व्यक्तिगत अभिमान अधिक प्रभावी हो रहा है। धार्मिक जीवन भी क्रमशः ह्रास की ओर है। यह समस्त आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक नेताओं के लिए चुनौती है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द केन्द्र कन्याकुमारी में लगे हुए जागृत, कर्मठ, संन्यासी, जीवनव्रती, सेवाव्रती कार्यकर्ता–ऐसे कठिन काल में देश का और समाज का सही नेतृत्व करेंगे तथा अपने ज्ञान प्रकाश से और समाज–सुधार की प्रबल भावना से देश को पुनः सशक्त जागृत राष्ट्ररूप में विकसित करने में सफल होंगे। निःसंदेह स्वामी विवेकानंद का जीवन संदेश, मार्गदर्शन और प्रेरणास्रोत सिद्ध होगा।

'उतिष्ठत् जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत्'। उठो, जागो औ लक्ष्य–प्राप्ति तक रुको मत। 'Arise! awake stop not till the goal is reached.

**कविता**

कृष्ण कुमार यादव,
जोधपुर, राजस्थान, 9413666599

## सभ्यता की आड़ में

सभ्यता के झीने आवरण से दूर
वे करते हैं विचरण
अपनी दुनिया में
जंगली सूअरों और गोह का
शिकार कर खाते लोग
कभी सीपियों का मांस, तो कभी
मछली–कछुए मार खाते लोग
डरते हैं जंगली जानवर
इनके तीखे भालों–बाणों से
पर वो डरते हैं
सभ्यता के शिकारियों से
सभ्यता की आड़ में
उनकी अस्मिता का शिकार करती
उनकी संपदा को ललचाई
निगाहों से घूरती
विकास के खोखले नारों के बीच
जंगल और जमीन कब्जाते लोग
छीन रहे हैं उनका सुकून।
हर कोई देखना चाहता है
छूना चाहता है उन्हें
पर नहीं चाहता उन्हें समझाना।
वे एक उत्पाद–भर रह गये हैं
उनके चेहरे, उनकी भाव–भंगिमाएँ
कैद करके कैमरों में
लौट जाते हैं लोग
अपनी सभ्य दुनिया में
और भूल जाते हैं
इन आदि मानवों को।

## पालिश

साहब! पालिश करा लो
एकदम चमाचम कर दूँगा
देखता हूँ उनकी आँखों में
वहाँ मासूमियत नहीं, वेवशी है
करा लो न साहब!
कुछ खाने को मिल जाएगा
सुबह ही पालिश किया हुआ जूता
उसकी तरफ बढ़ा देता हूँ
जूतों पर तेजी से
फिरने लगते हैं उसके हाथ
फिर कंधों से रूमाल उतार
जूतों को चमकाता है
हो गया साहब!
उसकी खाली हथेली पर
पाँच का सिक्का रखता हूँ
सलामी ठोक आगे बढ़ जाता है
सामने खड़े ठेले से
कुछ पूड़ियाँ खरीद ली हैं उसने
उन्हें गंदे हाथों से
खाने के कौर को
मुँह में डाल रहा है
मैं अपलक उसे निहार रहा हूँ
लोकतंत्र खामोश है
लोकतंत्र खामोश है
हर किसी ने उसे
आगे कर दिया है ढाल की तरह।
लोकतंत्र की आड़ में
रोज बदलते हैं पाले
गिरती हैं सरकारें
पर लोकतंत्र खामोश हैं।
किस–किस को चुप कराये ये
लोकतंत्र
पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईराक
और भी न जाने कितने देश
इसका मुलम्मा चढ़ाकर
इसे ही चिढ़ाये जा रहे हैं
हर कहीं, लोकतंत्र लाने की
खातिर
घोंटा जा रहा है
लोकतंत्र का ही गला
पर लोकतंत्र खामोश है
बिखरते शब्द
शंकर जी के डमरू से
निकले का अनंत संसार
शब्द हैं तो सृजन है
साहित्य है, संस्कृति है
पर लगता है
शब्द को लग गई
किसी की बुरी नजर
बार–बार सोचता हूँ
लगा दूँ एक काला टीका
शब्द के माथे पर
उत्तर संरचनावाद और
विखंडनवाद के इस दौर में
शब्द बिखर रहे हैं
हावी होने लगा है
उनपर उपभोक्तावाद
शब्दों की जगह
अब शोरगुल हावी है

संस्मरण :

# मौन का सर्जनशील सौंदर्य

कृष्णबिहारी मिश्र
बोलियाघट्टा, कोलकाता

जापान से लौटे वात्स्यायन जी ने अंग्रेजी त्रैमासिक 'ऐवरीमैंस' (वाक्) का संपादन–प्रकाशन शुरू किया था। साहित्य की दुनिया में बड़ी चर्चा थी कहानी 'पापजीवी' को स्वयं अनुवाद कर अज्ञेय ने छापा था। शिवप्रसाद जी बड़े प्रसन्न थे कि 'वाक्' के प्रवेशांक में उनकी कहानी को जगह मिली और अनुवाद स्वयं अज्ञेयजी ने किया। उन्हीं दिनों में कलकत्ता की प्रसिद्ध संस्था 'भारतीय संस्कृति संसद' ने उन्हें आमंत्रित किया था। अज्ञेय जी ने व्याख्यान के बाद जापान के सांस्कृतिक पक्ष से जुड़े कुछ मूल्यवान दृश्य भी अपनी व्याख्या–टिप्पणी के साथ पर्दे पर दिखाए थे। दूसरे दिन उस होटल में उनसे मिलने गया था, जहाँ वे ठहरे थे। घर से निकलने के पहले मैंने अपने कार्यक्रम का स्मरण दिलाने के लिए फोन किया था। 'हाँ, आ जाइए।' और जरा रुककर अपने जवाब में उन्होंने संशोधन किया था, 'मैं तो कल की बातचीत के मुताबिक आपकी प्रतीक्षा करूँगा, आप अपनी सुविधा देख लीजिए।' उनका सहज उत्तर था तो उनके निजी अनुशासन के अनुरूप पर मुझे थोड़ा असहज लगा था और किंचित् असमंजस में था कि ऐसे सजग आदमी से क्या कितनी बतकही हो सकेगी। मेरे गँवई संस्कार के लिए वह मुद्रा सचमुच विजातीय था और काशी के मेरे विदग्ध गुरुजी का व्यवहार शैली से सर्वथा भिन्न। आशंका के विपरीत बातें काफी देर तक हुई विविध प्रसंगों पर बड़े सहज ढंग से।

सागर का प्रसंग बीच में उठा था। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के संपादन में 'आलोचना' का 'काव्यालोचनांक' प्रकाशित हुआ था, जिसमें अज्ञेय की कविता पर एक निबंध छपा था। लेखक के बारे में उन्होंने मुझसे पूछा था। जवाब में मैंने कहा था– 'पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के कृती छात्र हैं।' मगर निबंध पढ़ने से तो ऐसा नहीं लगता। संदर्भ में तोड़कर कविता पर रायजनी करना काव्य–विवेक का परिचायक तो नहीं है। लेखक की मूल्यांकन विधि से अज्ञेय जी बेहद असंतुष्ट थे। मैंने दूसरे प्रसंग को पकड़ना जरूरी समझा, आप सागर गये थे पिछले दिनों, वाजपेयीजी से भेंट हुई थी?नहीं, मिलने जा रहा था, मगर आधी राह से लौट आया। जीप में मेरे साथ सागर के जो नये कवि थे, उन्होंने बताया कि मेरे सागर आने से वाजपेयी जी दुःखी हैं। मेरे साहित्य की उन्होंने तीखी आलोचना की है। अपने पक्ष से मैंने उनके निष्कर्ष की आलोचना की है। पर व्यक्तिगत स्तर पर हम एक–दूसरे का सम्मान करते रहे हैं। उनसे मिलकर उनका दुख और भारी करूँ, यह उचित नहीं जान पड़ता। इसलिए बीच रास्ते से मैंने जीप लौटा दी। मैंने जानना चाहा कि क्या वे वही युवा कवि थे, जिनसे बातचीत करते आपने उनके आँगन के पेड़–पौधे के कुल–शील के बारे में पूछा था और उनकी सौम्य मुद्रा में मुखर था। सागरवाला अप्रीतिकर प्रसंग मुझे काशी में डॉ. शंभुनाथ सिंह ने सुनाया था। अज्ञेय जी के मुँह से सुनने की सहज इच्छा थी।

शाम को विदा करने हावड़ा स्टेशन पहुँचा। प्रथम श्रेणी के डिब्बे के सामने सफेद कुर्ता–पाजामा पहने वात्स्यायन जी टहल रहे थे। मुझे देखकर मुस्कुराए और साथ लेकर डिब्बे में घुसे। अपने बर्थ के नीचेवाले बर्थ पर बिछे होलडाल को कायदे से मोड़कर किनारे किया और मुझे साथ लेकर बैठे। तभी गोष्ठी संयोजकों की ओर से एक सज्जन रजनीगंधा की अत्यन्त सुंदर माला लिये औपचारिक विदाई देने पहुँचे। वात्स्यायन जी प्लेटफॉर्म पर उतर आए। अपने तरीके से वे वात्स्यायन जी के प्रति आभार प्रकट कर रहे थे। वात्स्यायन जी कुछेक मिनट उन्हें झेलते रहे। बोलना तो दूर उनके चेहरे पर आगंतुक की बातों की प्रतिक्रिया तक नहीं प्रकट हो रही थी। मूर्तिवत् खड़े थे। उनकी चुप्पी से पराजित होते आगंतुक ने उनके गले में माला पहनायी, उनके चरण स्पर्श किये और चलते बने। वात्स्यायन जी ने राहत की साँस ली। माला वात्स्यायन जी के हाथ में थी। सौंदर्य की यह नृशंस अवमानना है। माला को लक्ष्य कर उन्होंने खीझ प्रकट की। फिर डिब्बे में घुसे। नीचे की बर्थ पर फिर होलडाल बिछा दिखाई पड़ा। बड़े कायदे से उसे मोड़कर ऊपर की अपनी बर्थ पर रख दिया। 'बैठिए।' उनकी धीमी आवाज में तीखी ठसक और तेजस्वी मनस्विता मैंने लक्ष्य की। बेहद स्वत्व–स्वत्व अज्ञेय जी दूसरों के सम्मान के प्रति उतने ही समानशील थे, यह और बात है कि उनका मौन और अभेद्य आभिजात्य उनके मूल धारणा के बारे में भ्रम रचता था। डॉ. रामविलास शर्मा का वयान वात्स्यायन जी की प्रकृति का सटीक परिचय देता है–'अज्ञेय से बहुत बार भेंट हुई। दिल्ली में, लखनऊ और आगरा में। मिलनसार थे। अपने बारे में अपने अनुभवों के बारे में काफी बात करते थे। एक बार वह मुझे लखनऊ में फिल्म दिखाने भी ले गये थे। आगरा में विद्यापीठ में मैंने कुछ दिन काम किया। उसके बाद विद्यानिवास मिश्र उसके निदेशक हुए। मिश्रजी से अज्ञेयजी की घनिष्ठता थी। वहाँ साहित्यकारों के चित्र लगाकर उस चित्रावली का उद्घाटन करने के लिए मिश्रजी ने अज्ञेय को बुलाया। उस समय फिर मुलाकात हुई। मालूम हुआ कि उन्हें रक्तचाप रहता है। परंतु दिल्ली से अपनी कार चलाते हुए वह आगरे तक आये थे। विद्यापीठ के अतिरिक्त मिश्रजी के घर भी उनसे भेंट हुई और देर तक बातें होती रहीं। यद्यपि मैंने उनकी बहुत बार आलोचना की थी, परंतु मिलने पर वह कभी उसका जिक्र न करते थे, जैसे 'तार सप्तक' के पुराने सहयोगी मिल रहे हों और बीच में कोई फासला न हो।'

हिन्दी गद्य लेखकों के बारे में उस दिन हावड़ा स्टेशन पर मैं वात्स्यायन जी के साथ बैठा बात कर रहा था। महादेवी वर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी और अमृतराय के गद्य के रूप में चर्चा की थी। एक अंतराल बाद अज्ञेय जी के दर्शन हुए, जब उनके आग्रह से भारतीय ज्ञानपीठ के पुरस्कार समारोह कलकत्ते में आयोजित किया था ओर वे सम्मान लेने कलकत्ता पधारे थे। संगीत कला मंदिर का सभाकक्ष ऊपर से नीचे तक खचाखच भरा हुआ था। तब वहीं कलकत्ते में सबसे बड़ा सभाकक्ष था। मुद्रित अंग्रेजी भाषण का आशु अनुवाद करते परिनिष्ठित हिंदी में वात्स्यायन जी का वाचन पहली बार सुना था और गर्वस्फूर्त हुआ था हिन्दी की समृद्धि को लक्ष्य कर। अनुष्ठान का समापन करते उन्होंने लक्ष्मीचंद्र जैन के अनुरोध पर 'असाध्य वीणा' का पाठ किया था। उनके काव्य–पाठ की कला भी विशिष्ट और अद्वितीय थी। तब उनके दर्शनभर हुए थे, भेंट नहीं हुई थी। उनकी व्यस्त चर्या को देखते मैंने कोशिश भी नहीं की थी। मिलने बतियाने की और वैसा अंतरंग परिचय भी नहीं था कि वे मुझे खोजते।

भँवरमल सिंधी के अभिनंदन समारोह में शरीक होने वात्स्यायन जी आ रहे हैं, निमंत्रण पत्र से जानकर थोड़ा अचरज हुआ था; क्योंकि दोनों के आत्मीय संबंध समझ पाया कि व्यक्तिगत संबंधों के प्रति वात्स्यायन जी

कितने संवेदनशील हैं और दूसरे के गुण को गौरव देना उनकी सहज प्रकृति है। उसी कोलकाता यात्रा में वात्स्यायन जी के साथ कुछ प्रश्नों के माध्यम से बतियाना चाहता था और पूछा था कि आपका आदेश हो तो कुछ प्रश्न छोड़े भी जा सकते हैं। सहज भाव से उन्होंने जवाब दिया था–'प्रश्न तो सारे अच्छे हैं, रेडियो की समय–सीमा है। उसे देखते जितना संभव हो, उतने से संतोष करना पड़ेगा।' और अधिकांश प्रश्नों पर हमलोगों की बातचीत हुई, मगर प्रश्नों पर केन्द्रित मर्यादित बातचीत, मुक्त बतकही नहीं। वात्स्यायन जी का अपना निजी अनुशासन था, जिसके प्रति वे सदा सचेत रहते थे। मुझे विदा करने वे अपने आतिथेय के मुख्य द्वार तक आये थे और तब उनके सौजन्य ने मुझे अभिभूत कर दिया था।

वात्स्यायन जी की मनस्विता के तेज के साक्षात्कार का दो बार कलकत्ता में ही अवसर मिला है। कलकत्ते के रचनाकारों की एक गोष्ठी आयोजित की गयी थी, जिनसे मिलने–बतियाने के लिए वात्स्यायनजी आग्रहशील थे। बातचीत के बीच में एक युवा कवि ने आक्रामक मुद्रा में उन पर आरोप लगाया था कि मुक्तिबोध की हत्या का आपके हाथों में खून लगा है, जो अब धूलनेवाला नहीं है और वात्स्यायनजी ही नहीं, सारी गोष्ठी स्तब्ध हो गयी थी। मगर बिना विचलित हुए वात्स्यायनजी ने पूरी गरिमा के साथ अपना पक्ष स्पष्ट किया था। उनकी कैफीयत में नैसर्गिक मनस्विता का तेज मुखर था। प्रश्नों के जवाब में उन्होंने कुछ किये थे, जिनका उत्तर चुप्पी के रूप में मिला था। एक प्रश्न प्रासंगिकता की प्रासंगिकता पर केन्द्रित था। कलकत्ता वात्स्यायन ही का कार्य क्षेत्र रहा है,जहाँ प्रवास करते उन्होंने महत्त्वपूर्ण रचनात्मक काम किया था और रिश्ते की नई दुनिया अर्जित की थी। अपने प्रिय नगर की नई रचनाकार–पीढ़ी के अंतरंग परिचय की उनकी इच्छा सहज थी। उन्हीं के आग्रह से मिलन–गोष्ठी आयोजित की गयी थी। अनौपचारिक तरीके से फर्श पर बैठकर बातचीत हुई थी। मैंने लक्ष्य किया था, वात्स्यायन जी बहुत आश्वस्त नहीं हुए थे।

कलकत्ते की प्रसिद्ध संस्था 'भारतीय संस्कृति संसद' की ओर से रजत पर्व के अवसर पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गयी थी। वात्स्यायनजी उद्घाटन के लिए आहूत थे। साहित्य की दुनिया के अनेक पांक्तेयजन की उपस्थिति से समारोह मंच संपन्नता दीप्त था। जाड़े का मौसम था। विशिष्ट शैली का ऊनी कुर्ता–पाजामा पहने वात्स्यायन जी अपने गरिमा सौंदर्य में मंच के केन्द्रीय पुरुष के रूप में बरबस पूरी सभा को अपनी ओर आकृष्ट किये बैठे थे। उनके हाथ में 'अपरोक्ष' नामक पुस्तक थी, जो शायद अपने प्रीतिभाजन डॉ. चन्द्रकांत बान्दिवडेकर को देने के लिए लाये थे। संयोजक ने अनुरोध किया, 'दीप प्रज्वलित कर वात्स्यायन जी समारोह का उद्घाटन करें।' वात्स्यायनजी ने दीप प्रज्वलित किया था। माइक के सामने खड़े हुए थे, 'निर्देशानुसार दीप प्रज्वलित कर अनुष्ठान के उद्घाटन विधि मैंने पूरी की। आप सबको नमस्कार। और अपनी जगह जाकर चुपचाप बैठ गये थे। मंच और श्रोतामंडली हतप्रभ। उनके मौन के साथ सारी उपस्थिति अचंभे की मुद्रा में मूक थी। किसी को सूझ नही रहा था कि चुप्पी टूटे कैसे। सभी एक दूसरे का मुँह ताक रहे थे। उनके अंतरंग सखा पं. विद्यानिवास मिश्र के अलावा पं. भवानी प्रसाद मिश्र, डॉ. जगदीश गुप्त, डॉ. चंद्रकांत बान्दिवडेकर मंच पर विराजमान थे और भी अनेक लोग। मैं वात्स्यायन जी के करीब ही उनके पीछे बैठा था। वातावरण स्तब्ध था। भवानी भाई ने समाधान रचा, 'भइया आपको सुनने के लिए हम सब व्याकुल हैं। आप थोड़ी देर के लिए माइक के साथ खड़े हों।' और वात्स्यायन जी ने जिस अनुद्वेलित मुद्रा में स्तरीय लंबा वक्तव्य रखा प्रबुद्ध श्रोता जैसे समृद्ध हो गये, एक उपलब्धि दीप्त सबके चेहरे पर मुखर थी। पर किसी को यह स्पष्ट नहीं था कि वात्स्यायन जी की उस जटिल मौन मुद्रा के मूल में कौन–सी खरोंच थी। शायद संयोजकीय असावधानता का ही कुछ अन्यथा स्पर्श था, उनके निजी अनुशासन छंद पर। 'अपरोक्ष' नामक पुस्तक बान्दिवडेक जी को देकर वात्स्यायन जी मंच से उतर गये थे और पूरे समारोह में फिर दिखाई न पड़े, जैसे उद्घाटन वक्तव्य के साथ ही उनकी कुल भूमिका पूरी हो गयी हो। पर पूरे समारोह पर उनका वक्तव्य, जो साहित्यिक मूल्यों पर केन्द्रित था, छाया रहा और उनकी मनस्वी मुद्रा चर्चा का विषय बनी रही। तबतक वात्स्यायनजी मेरे लिए दूर के देवता थे।

उन्हीं दिनों ललित निबंध का पहला संकलन 'बेहया का जंगल' छप रहा था। जाने किस अज्ञात प्रेरणा से मन में साध जगी कि अज्ञेयजी की संस्कृति मेरे निबंध–संग्रह को हिन्दी जगत् के सामने प्रस्तुत करती तो पुस्तक को अपेक्षित प्रवेश मिलता और साहस बटोरकर उनसे पुस्तक की भूमिका लिखने का अनुरोध किया। अविलंब उनका जबाव आया–'आपके निबंधों की भूमिका मैं लिख तो सहर्ष देता, पर परसों ही छह सप्ताह के लिए विदेश जा रहा हूँ। आपकी किताब तब तक छप चुकी होगी और देर करना क्षतिकर होगा।... मैं नवम्बर में लौटकर भी महीना–डेढ़ महीना पिछला भुगतान करने में लगा रहूँगा। 'मणिमय' का प्रकाश न होगा तो क्या दो प्रतियाँ भेज सकेंगे?' पत्र के उपसंहार में अज्ञेयजी ने मेरी लिखावट पर मधुर कटाक्ष किया था–'आप बड़े सुन्दर अक्षर लिखते हैं, मेरा दुर्भाग्य कि आँखों के कष्ट के कारण मुझे बड़ा दिखनेवाले लेंस के सहारे पढ़ना पड़ता है।'

कलकत्ते की लघु पत्रिका 'मणिमय' के संपादक श्रीरामव्यास पांडेय के हठीले आग्रह से मैंने एक बड़ी परिकल्पना हाथ में ले ली थी। पांडेयजी मेरे संपादन में 'मणिमय' का एक विशेषांक प्रकाशित करने के लिए आग्रहशील थे। शोध–प्रबंध तैयार करते हिंदी पत्रकारिता के व्याज से हिंदी विषय बंगीय विरासत की मैंने पड़ताल की थी। उस समृद्ध परंपरा को व्यवस्थित रूप में उजागर करने का सपना तभी से मेरे मन में घुमड़ रहा था। पांडेयजी के प्रस्ताव को रूपायित करने का मैंने संकल्प किया और 'हिन्दी साहित्य : बंगीय भूमिका' शीर्षक आकलन ग्रंथ का प्रारूप तैयार किया। कलकत्ता अज्ञेयजी का प्रवास क्षेत्र था, जहाँ रहकर 'विशाल भारत' का उन्होंने संपादन किया था। कई साहित्यिक योजनाएँ रची थीं और दूसरे–दूसरे कार्य किये थे। उस प्रवास काल की स्मृति टाँक देने के लिए मैंने वात्स्यायन जी से अनुरोध किया। उनके नाम मेरा वह पहला पत्र था, जिसका अनुकूल उत्तर अविलंब मिला। कार्याधिक्य के चलते वात्स्यायनजी ने निबंध तैयार करने के लिए कुछ समय माँगा था। एक छोटी प्रतीक्षा के बाद मैंने उन्हें अपने अनुरोध का स्मरण दिलाया, जिसके जवाब में लंबे निबंध के साथ लंबा पत्र भेजा–'पत्र के साथ कलकत्ते का संस्मरण भेज रहा हूँ। तैयार करने में जो देर हुई, उसके लिए क्षमा चाहता हूँ। देर मेरे आलस्य के कारण नहीं हुई। एक के बाद एक इसी तरह के काम पूरे करता आ रहा हूँ। यों मैंने जून में भेजने की बात नहीं कही थी। जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने यह लिखा था कि जून तक तो यह काम उठाने की भी संभावना नहीं है। 29 जून को बाहर से लौटा और तब लिखने–लिखाने का सिलसिला फिर से शुरू हुआ।

कह नहीं सकता कि संस्मरण आपको पसंद आएँगे या नहीं। इतना ही है कि कुछ बातें पाठकों को नई अवश्य जान पड़ेंगी। लेख यदि लंबा जान पड़े, तो उसमें कोई अंश आप छोड़ भी दे सकते हैं। लेख के भीतर परिच्छेद

के चिह्न तो स्पष्ट ही हैं। कोई भी परिच्छेद आप छोड़ सकते हैं।

एक फोटो भी लेख के साथ रख दी है। यह फोटो तो इधर की है, कलकत्ते के समय की नहीं। पुरानी ही फोटो आप चाहते हों तो लौटती डाक से लिखें, मैं भेज दूँगा; लेकिन वह फिर इस शर्त के साथ कि उसे आप ब्लॉक बनवाने के बाद तुरंत लौटा दें।' वात्स्यायन जी के औदार्य के इस रूप में मेरा प्रथम परिचय था। संस्मरण निबंध विशेष उपलब्धि थी। पर कार्यव्यस्तता के चलते प्राप्ति सूचना भेजने में दो–चार दिन की देर हो गयी। कृतज्ञता का पत्र पाते ही वात्स्यायनजी ने पत्र लिखा–'मैं चिंता ही करने लगा था कि लेख कहीं खो तो नहीं गया कि आपका पत्र मिला। वह आपको पसंद आ गया, जानकर संतोष हुआ। ...फोटो सचमुच रखना भूल गया। आज भेज रहा हूँ।'

वात्स्यायनजी की 'भूमिका' के प्रति आग्रहशील था, इसलिए प्रतीक्षा का धैर्य मुझमें था। 22 जनवरी, 1982 को लिखित वात्स्यायनजी का पत्र मिला, 'आपको 19 नवंबर का पत्र, उसके साथ भेजी हुई आपकी भूमिका मैंने विदेश से लौटते ही पढ़ ली थी, लेकिन जो काम आपने सौंपा, वह अभी तक नहीं हो पाया। पिछले तीन–चार दिन से सोच रहा था कि लिखकर भेज दूँ, लेकिन आपका पत्र फिर पढ़ा, तो उसमें गुंजाइश दिखी कि अपने मनोनुकूल काम कर सकूँ। इसके लिए पुस्तक के छपे हुए अंश आपसे मँगा सकता हूँ। केवल इंगित के आधार पर मैं कुछ लिख तो सकता, लेकिन स्वयं मुझे उससे संतोष न होता। आपकी पुस्तक का जितना अंश छप गया हो, वह भेज दें, तो मैं अब और विलंब किये बिना भूमिका लिखकर भेज दूँगा। विदेश से लौटते ही जो काम सिर पर थे, उनसे अब मैंने छुट्टी पा ली और इस समय मन से काम करने की कुछ सुविधा है।' वात्स्यायनजी के निजी अनुशासन से जो परिचित हैं, जानते हैं कि उनका विवेक जिस काम की अनुमति देता है, उसे ही वे हाथ में लेते हैं। बड़े–से–बड़ा प्रलोभन भी उनके अनुशासन को शिथिल नहीं कर सकता था। उनके इस पक्ष से जो परिचित थे, वे बौद्धिक मनस्विता को दर्प मानकर अप–प्रचार की भित्ति रच लेते थे। कलकत्ते की एक बड़ी संस्था के अधिकारीगण वात्स्यायनजी के सम्मान के व्याज से अपने प्रांगण में उनका भाषण कराना चाहते थे। उनके आग्रह की मैंने संस्तुति की। मगर उनके विवेक को मेरा अनुरोध मंजूर नहीं था। सहज सौम्य मुद्रा में उन्होंने जवाब लिखा था, निजी पक्ष स्पष्ट करते। पत्र में यह निर्देश भी था कि संस्था–अधिकारियों को मैं समझा दूँ कि न आने का अर्थ यह न लगाया जाए कि उनके प्रति मन में किसी प्रकार की अवज्ञा भाव है।

वात्स्यायनजी मुझे अपने आशीर्वाद से प्रीत करना नहीं चाहते थे, मन से भूमिका लिखना चाहते थे, मेरे लिए यही बड़ी बात थी। और वह भूमिका न केवल मेरी निजता को रेखांकित करती है, बल्कि व्यक्तिजनक निबंध पर एक गंभीर टिप्पणी के रूप में बौद्धि वर्ग द्वारा स्वीकार की गयी है।

रघुवीर सहाय और गोपालदास से आकाशवाणी पर बातचीत करते वात्स्यायन ही ने प्रसंगवश अपने स्वभाव के बारे में संकेत किया था–'मैं बाहर से शांत दिखता हूँ, लेकिन भीतर से बहुत बेचैन व्यक्ति हूँ। बेचैन का जो एक घटिका अर्थ भी हो सकता है, उस अर्थ में नहीं। लेकिन मुझको है कि भीतर मुझमें काफी ऊर्जा है, जिसको किसी–न–किसी तरफ रास्ता मिलना चाहिए। भीतर–ही– भीतर वह चक्कर काटती रहती है। वह बेचैन ऊर्जा जो वात्स्यायनजी के भीतर चक्कर काटती रहती है, उन्हें कई राहों–घाटों पर दौड़ाती रही। नित नये प्रयोग रचने के लिए प्रेरित करती रही–परिधान से लेकर साहित्य–रचना और संस्कृति आयोजन तक उनकी पूरी जीवन–चर्चा में प्रतिभ स्वकीयता और अद्वितीयता मुखर थी। 'विशाल भारत' जैसी पत्रिका का संपादन करते एकाएक सेना में भर्ती होने का निर्णय, उस सरकार की सेना में जिसके विरुद्ध अपनी विप्लवी भूमिका के लिए उन्हें फाँसी की सजा हो चुकी थी। हीराचंद शास्त्री जैसे उच्च पदस्थ सरकारी अधिकारी के संस्कारी चुप्पा बेटे के लिए क्रांतिकारियों के आग्नेय पथ को वरण करना कम अचरज की बात नहीं थी। मगर पिता के स्तर तक पहुँचने के लिए, पिता जैसा दिखने के लिए अज्ञेयजी को पिता से बहुत दूर जाना जरूरी लगता था–

कितना दूर जाना होता है पिता से,
पिता जैसा होने के लिए!
और उस दूरी को लाँघने का उनमें
आत्मविश्वास उनकी प्रतिभा रचती थी–
है राह
कुहासे तक ही नहीं, पार देहरी के हैं।
मैं हूँ तो वह भी है।

और अज्ञेय ने सारे विकट प्रत्यूहों को चीरकर अपने होने का प्रमाण दिया–अपनी सर्जनशीलता से मनीषी पिता के कृती पुत्र होने का प्रमाण। अनिकेतन अज्ञेयजी पेड़ पर अपने लिए घर बनवा रहे थे, जीवन की उपसंहार बेला जब करीब थी। हिन्दी की प्रकृति और संस्कार के लिए अज्ञेयजी की व्याकुल ऊर्जा थोड़ी भारी पड़ती थी, इसलिए किंचित् असह्य और उनके रचनात्मक प्रयोग–जानकी जय जीवन यात्रा तक हिंदी मिजाज के लिए एक अंश तक विजातीय, इसलिए उनका प्रत्येक आयोजन विवादास्पद रहा। लोग चिढ़ाते और अश्लील विद्रूप तक रचते रहे। समाज के प्रति संवदेनशील अज्ञेय अपनी स्वाधीनता के प्रति उतने ही सचेत थे। रमेशचंद्र शाह ने 'वत्सल निधि' के तत्त्वावधान में आयोजित कार्यक्रम में बोलते हुए बड़ी सटीक टिप्पणी की थी–समाज में स्वाधीन होना नहीं, समाज में स्वाधीन रहना अज्ञेय के विवेक का आग्रह था। जिस भाषा के कवि–लेखक थे, अज्ञेय उस भाषा–समाज से उनकी संवेदना संसक्त थी। और चूँकि अतिशय सजग थे स्वयं के प्रति भी और जैसी उन्होंने एक बातचीत में कैफीयत दी है कि मौन रहते मैं आत्म–प्रशिक्षण में लगा रहता हूँ, उन्हें हिन्दी जगत् की प्रतिक्रिया का प्रामाणिक ज्ञान था; क्योंकि उसके प्रति वे संवेदनशील थे और एक चौकन्ना क्रांतिकारी और सैनिक उनके भीतर सदा युयुत्सु मुद्रा में क्रियाशील था, जिसपर उनका सौम्य स्मिति पर्दा दिये रहती थी। अनेक आरोपों–कटाक्षों और हीन प्रयोजन से उठाये गये सवालों का प्रत्याख्यान करते प्रभर तर्क के साथ अपना पक्ष स्थापित किया था। हल्की–फुल्की उन्हें अनुमति देती थी। यद्यपि कभी–कभी बड़ी व्यंजक चुटकी लेते थे। मुझे स्मरण है, मैथिलीशरण गुप्त शताब्दी–समारोह का साहित्य अकादमी ने कलकत्ता में आयोजन किया था। वात्स्यायनजी ने बीज वक्तव्य का वपन किया था। हिन्दी के पाक्तेयजन उपस्थित शास्त्री के राग में राग मिलाते नामवर सिंह ने उस वक्तव्य को 'दिव्य' कहा था। और शास्त्रीजी ने वात्स्यायनजी को संबोधित किया था, 'वात्स्यायन जी, नामवरजी भी आपके वक्तव्य को दिव्य मानते हैं। मुस्कुराते हुए वात्स्यायन जी ने टिप्पणी जड़ी थी–'नामवरजी का दिव्य राक्षस पक्ष का दिव्य है।' और नामवर जी सहित हम सभी हँस पड़े थे। देश–विदेश और हिन्दी जगत् की गतिविधि के प्रति वे कितने सचेत रहते थे, उनके पत्रों से भी इसका संकेत मिलता था। मुझे उलाहना देते उन्होंने 1 जून, 1982 को पत्र लिखा था–'कुछ दिन पहले किसी समाचारपत्र में समाचार देखा कि पुस्तक 'बेहया का जंगल' के

प्रकाशन और संचारण का उत्सव हुआ था, जिसमें बहुत–से लोगों ने भाग लिया। इस सूचना से जानकारी भी बढ़ी और प्रसन्नता भी हुई कि पुस्तक प्रकाशित हो गयी और उसका स्वागत भी हुआ है। लेकिन थोड़ा आश्चर्य और खेद भी हुआ कि पुस्तक की एक प्रति मुझे भेजने का ध्यान आपको अथवा आपके प्रकाशक को न रहा। कुछ छपे हुए फरमे आपने पहले अवश्य भेजे थे, बल्कि उन्हें पढ़कर ही मैंने भूमिका लिखी थी, लेकिन संपूर्ण पुस्तक देखने का चाव तो बना ही रहा। मेरी असावधानता के चलते वात्स्यायनजी को पुस्तक भेजने में थोड़ी देर हो गयी थी। इसी पत्र के बंद लिफाफे पर उन्होंने लिखा था–'पत्र डाक में छोड़ने से पहले पुस्तक मिल गयी। धन्यवाद!' इसी तरह 13.11.1983 के पत्र का उपसंहार करते उन्होंने लिखा था–'सुनता हूँ कि कलकत्ते में दिसंबर में कई आयोजन हो रहे हैं–जैसे दिल्ली में नवंबर में।' यह एक पंक्ति बहुत अर्थगर्भ है। उद्धृत पत्रांश से इतना स्पष्ट है कि हिन्दी जगत की गतिविधि के प्रति वात्स्यायन जी हर वक्त संवेदनशील रहते थे और मानसतंत्र अत्यन्त चौकन्ना था।

पैतृक संपत्ति के अपने हिस्से से सच्चे निस्पृह व्यक्ति की तरह हाथ खींच लेनेवाले नैसर्गिक मनस्विता के आग्रह से उस घर में जिस घर में कभी लौटकर नहीं आना है, अपनी मूल्यवान सामग्री–विशिष्टजनों के पत्र इत्यादि अनासक्त भाव से छोड़कर चल देनेवाले वात्स्यायन जी अपनी रचना की हिफाजत के प्रति बहुत जागरूक थे। 'सदानीरा' के रूपायन में लगे थे, तब उन्हें मेरी याद आयी। पत्र लिखा था–'जिन दिनों मैं कलकत्ता रहता था, उन दिनों 'विश्वामित्र' में मेरी एक रचना छपी थी 'चाँदपाल घाट'। पता नहीं इसके विषय में मैंने पहले भी आपको लिखा था या नहीं, लेकिन इस रचना की कोई मुद्रित अथवा अमुद्रित प्रति मेरे पास नहीं है और उसकी मुझे अत्यन्त आवश्यकता है। क्या यह संभव होगा कि आप कहीं से मासिक 'विश्वामित्र' की फाइल से इस रचना की मेरे लिए प्रतिलिपि करा दे सकें? टंकित प्रतिलिपि हो तो भी मेरा काम चल जाएगा अथवा फाइल लेकर आप उसकी फोटोस्टेट प्रति बनवा लें तो भी ठीक रहेगा। यदि आपको कहीं से फाइल अथवा वह अंक उपलब्ध हो सके, तो मेरे खर्चे पर यह काम कराकर मुझे रजिस्ट्री अथवा वी.पी. से भिजवा दें, अनुगृहीत हूँगा।' पत्रकारिता विषय शोधकार्य करते समय यहाँ के सारे पुस्तकालयों और पत्र–पत्रिकाओं के कार्यालयों को मैंने बड़ी जागरुकता से हलकोरा था। राहघाट से परिचय अंतरंग हो गया था। वात्स्यायनजी के आदेश को सौभाग्य मानकर सारे केन्द्रों की नये सिरे से पड़ताल की और निरुपाय होकर वात्स्यायनजी को 'सरस्वती भवन' फतेहपुर से पता लगाने के लिए पत्र लिखा।

मेरे छोटे अक्षरों पर एक बार वात्स्यायन जी ने टिप्पणी की थी। उनका इशारा समझकर उन्हें मैं निहायत असहज तरीके से ड्राइंग पेंसिल से बड़े–बड़े अक्षरों में पत्र लिख दिया। डाक में पत्र छोड़ने के बाद ध्यान आया तो तुरंत अपनी असावधानता के लिए क्षमा याचना का पोस्टकार्ड लिखा। लौटती डाक से उन्होंने जवाब दिया। उसी बीच उन्हें 'हिन्दी साहित्य : बंगीय भूमिका' की दो प्रतियाँ भी मिल गयी थीं। 13.11.1983 का पत्र मिला, 'आपके दो पत्र मिल गये थे, पीछे कोई पुस्तक की दो प्रतियाँ भी छोड़ गया। आभारी हूँ। देर तो हुई, पर पुस्तक सुंदर है और सामग्री मूल्यवान निश्चय ही यह ग्रंथ हिन्दी जगत में सम्मान पाएगा। दूसरे नगर अनुकरण भी करना चाहेंगे... लिपि की बात आपको याद रही। आपके अक्षर तो बड़े सुंदर और सधे हुए होते हैं, मुझे छोटे अक्षरों से भी कष्ट होता है, पर अधिक कष्ट फीकी रोशनाई से होता है, कभी–कभी तो अक्षर देख ही नहीं पाता। पर पिछला पत्र और उसकी लिपि देखकर तो चित्त प्रसन्न हो गया।

'बंगीय भूमिका' को सारे हिन्दी जगत् ने सार्थक प्रयास के रूप में स्वीकार किया, जो कि मेरे लिए प्रेरक था, पर वात्स्यायन जी की संक्षिप्त सम्मति सचमुच विशेष उपलब्धि थी। हार्दिक इच्छा थी कि वात्स्यायन जी के हाथों ही उक्त आकलन ग्रंथ का लोकार्पण कराऊँ। मेरे कई अनुरोध–पत्र जब अनुत्तरित रह गये तो दिल्ली–प्रवासी अपने एक आत्मीय को वात्स्यायनजी से संपर्क कर फोन से सूचना देने का दायित्व सौंपा। वात्स्यायनजी को फोन करते थक गया। खबर मिली कि वात्स्यायनजी विदेश गये हैं और घर में एक प्रहरी के अलावे कोई नहीं है। पुस्तक तैयार हो गयी थी। डॉ. प्रभाकर माचवे, डॉ. प्रतापचंद्र, डॉ. विश्वनाथ अय्यर, डॉ. पांडुरंग राव और श्रीविष्णुकांत शास्त्री की मुखर उपस्थिति में लोकार्पण अनुष्ठान सम्पन्न हुआ। दो–तीन सप्ताह बाद एक दिन शाम को मेरे फोन की घंटी बजी। छोटे बेटे ने बताया, दिल्ली से किसी का फोन है। आवाज पहचानकर बोले–'नमस्कार, वात्स्यायन जी बोल रहा हूँ। विदेश से लौटने पर आपके पत्र मिले। पत्र तो लिख दिया है, पर सोचा कि पहुँचने में समय लगेगा। आपका अनुष्ठान अभी संपन्न न हुआ हो, तो उसके अनुसार कार्यक्रम बनाऊँ। वैसे बहुत विलंब हो गया है।' मैंने किंचित् के साथ अपनी स्थिति स्पष्ट की। बतकही का समापन करते वात्स्यायनजी ने कहा–'संभव हो तो पुस्तक की दो प्रतियाँ मेरे पते पर भिजवाइएगा।' और एक दिन मैंने लक्ष्य किया था कि अपने सहज औदार्य से वात्स्यायनजी कभी–कभी गहरे संकोच में डाल देते हैं। 'स्मृतिलेखा' के निबंध 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में क्रमशः छप रहे थे। रेणु विषयक संस्मरण पढ़कर मैंने वात्स्यायनजी को पत्र लिखा था। मेरे पत्र का जवाब देते उन्होंने लिखा था–'स्मृतिलेख' माला आपको पसंद आ रही है, यह जानकर संतोष हुआ। पुस्तक छप रही है और सितम्बर के अंत तक तैयार हो जानी चाहिए।' 22 जनवरी, 1982 का लिखा दूसरा पत्र मिला, 'स्मृतिलेखा' छप चुकी है और प्रकाशक से कुछ प्रतियाँ मुझे अगले सप्ताह मिल जाएँगी। पुस्तक आते ही आपको भेजूँगा। आशा है आपको पसंद आएगी। यदि वैसी प्रेरणा हो तो कहीं उसकी समीक्षा भी कर देंगे, आभारी रहूँगा।' और पत्र पढ़कर चमत्कृत हो गया कि मेरे जैसे अदना आदमी को ऐसी गुरुता वात्स्यायनजी की उदारता ही दे सकती है। पुस्तक प्रीतिपूर्वक उन्होंने भेजी और मनस्थ होकर मैं पढ़ गया। पर समीक्षा लिखने का साहस अपने भीतर नहीं जगा सका। पुस्तक की भूमिका वात्स्यायनजी के अंतरंग सखा पं. विद्यानिवास मिश्र ने अपने भाई का मान रखने के लिए लिखा है, पर गहरे संकोच के साथ। समीक्षा लिखने की मैं हिम्मत कैस करता! सो वात्स्यायनजी का आदेश अनुत्तरित रह गया। उनका बड़प्पन था कि फिर कभी मुझे उन्होंने इस संबंध में टोका नहीं। इस कोटि का गरिमाबोध कदाचित् प्रसाद में ही रहा होगा।

सहज संकोच के चलते ही वात्स्यायनजी का आग्रह मेरी ओर से अनुत्तरित रह गया था और गहरे संकोच ने एक बार और दबाया था, जब मैथिलीशरण गुप्त शताब्दी समारोह की भीड़ से खोजकर वात्स्यायनजी ने मुझे अपने निकट बुलाया था और अपनी बगल में मेज पर बैठने का मुझे आदेश दिया था, साथ में फोटो लेने के उद्देश्य से। मुझे उनकी ऊँचाई के होश थे, सकुचाते हुए बगल में खड़ा हो गया। महीन स्मिति के साथ उन्होंने आग्रह किया था, 'ऐसे नहीं, यहाँ बैठिये।' और मैं निरुपाय था। बाद में उस चित्र की एक प्रति मेर एलबम के लिए उपलब्ध हो गयी थी।

'भारतीय भाषा परिषद्' के सहयोग से साहित्य अकादमी ने

कलकत्ता में मैथिलीशरण गुप्त शताब्दी समारोह का 1986 में आयोजन किया था, जिसमें तब के अधिकांश पांक्तेय हिन्दी लेखक और विचारक सम्मिलित हुए थे। उद्घाटन बंगला कवि सुभाष मुखोपाध्याय ने किया था और उद्घाटन सत्र में ही अज्ञेयजी बीज वक्तव्य के रूप में अपने आलेख का वाचन किया था। राष्ट्रकवि के महत्त्व को रेखांकित करते प्रसंग विशेष में वात्स्यायनजी ने जिस कवि और आलोचक को उद्धृत किया था, मेरे आलेख में भी वही उद्धरण था। मेरे असमंजस का यही बिन्दु था कि मुझे अन्यथा न समझा जाए। उद्घाटन संध्या के ठीक बाद यानी दूसरे दिन के प्रथम सत्र में ही मुझे अपना आलेख प्रस्तुत करना था, जिसे छपवाकर साहित्य अकादमी के अधिकारी अपने साथ दिल्ली से लाये थे। परिवर्तन–संशोधन की गुंजाइश नहीं थी। मेरे अंतरंग कवि मित्र शंकर माहेश्वरी ने मेरा असमंजस तोड़ा था और वात्स्यायनजी के बीज वक्तव्य को स्मरण करते मैंने आलेख–पाठ पूरा किया था। शाम को श्रद्धेय पं. विद्यानिवासजी ने प्रीत कंठ से मुझे बताया कि 'भाई तुम्हारे आलेख की बड़ी प्रशंसा कर रहे थे।' और प्रीत होकर अवसर का लाभ उठाते मैंने पूछा था–'मगर आपको कैसा लगा पंडितजी?' मुस्कुराते हुए पंडितजी ने जवाब दिया था, 'भाई की सनद के बाद मेरी सम्मति का क्या मोल?' मंच से आलेख बाँचते इतना तो मैंने भी लक्ष्य किया था कि एक किनारे बैठे वात्स्यायनजी मनस्थ होकर मुझे सुन रहे थे और मेरा वाचन पूरा होते ही सभाकक्ष से निकल गये थे, जब कि मंच पर उनके प्रिय निर्मल वर्मा थे, जो मेरे बाद ही अपना आलेख पढ़नेवाले थे और देवराज जी का अध्यक्षीय वक्तव्य अंत में था। बाद में डॉ. देवराजजी ने भी अपनी पत्रिका के लिए मेरा आलेख माँगा था और निर्मलाजी ने दूसरे सत्र में भेंट होते ही मेरे आलेख की प्रशंसा की थी। मगर वात्स्यायनजी ने अपनी प्रतिक्रिया मेरे सामने न प्रकट कर पं. विद्यानिवासजी मिश्र को बतायी थी। उनकी सहज मनस्विता का यह स्वकीय रूप कई प्रकार से भ्रम भी जब–तब रच देता था।

मगर अपनी ही नहीं, दूसरे की स्वतंत्रता के प्रति वात्स्यायन जी जैसे संवेदनशीलता–सहिष्णुता उनकी पीढ़ी में भी विरल थी। आज के स्वार्थ सहज अंधे युग में तो वह संस्कार नामवर हस्तियों में भी, जो मूल्यों के जागरुक प्रहरी के रूप में प्रचारित किये जाते हैं, क्षीण रूप में भी नहीं दिखाई पड़ता। कनिष्ठतम पीढ़ी तक में उन्हें प्रतिभा प्रकाश दिखाई पड़ता था, उसे सही राह पर नियोजित करने की संवेदना और अपेक्षित प्रोत्साहन देने का जागरुक विवेक उनमें बराबर कायम रहा। उनके साहित्यिक सांस्कृतिक आयोजनों में दलबंदी की हीन मति नहीं थी, जैसा शिविर विशेष कूट मंतव्य से आरोप रचना और प्रचारित करता रहा। उनके सारे आयोजन उनकी समष्टिप्रियता को द्योतित करते हैं। द्वीप कभी नदी की महत्ता को अस्वीकार नहीं करता, उसे स्वैराचार का दृढ़ता से प्रतिरोध करता है। पूर्वाग्रहमुक्त होकर विचार करने पर तथ्य स्पष्ट होगा कि कृति उद्योक्ता वात्स्यायन ही की कोटि के लोकपरक सांस्कृतिक आयोजन की प्रचेष्टा हिन्दी रचनाकारों में कदाचित् केवल भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में ही दिखाई पड़ती है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नायकत्व की दिशा दूसरी थी। उनकी चिंता का स्तर निस्संदेह ऊँचा था, पर कर्म सरणि केवल 'सरस्वती' पत्रिका तक ही सीमित थी, जिसकी भूमिका ऐतिहासिक महत्त्व की है और जो संस्कार–निर्माण की दृष्टि से एक मूल्यवान आयोजन थी। प्रेमचंद की पीढ़ी के कवि लेखक रचना कर्म से हटकर जब–तब स्वतंत्रता संग्राम से तो जुड़े, पर संस्कृति की उस जमीन से नहीं जुड़े, जो रचना संस्कृति का ही जरूरी और मूल्यवान धरातल था और समग्र अभ्युत्थान के लिए जिसकी एक गुरुतर मूल्यवत्ता भी थी। कालांतर में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के उद्योक्ताओं के आयोजन की प्रेरणा साहित्यिक सांस्कृतिक मूल्यों से नहीं, राजनीतिक विचार से जन्मी थी। इसलिए स्वाभाविक रूप से प्रथम अधिवेशन की सदारत करते प्रेमचंद ने उद्योक्ताओं के मनोभाव को बड़ी साफगोई के साथ टोका था। साहित्य में राजनीति का हस्तक्षेप प्रेमचंद को स्वीकार्य नहीं था। उस वर्चस्व की बात तो वे सोच नहीं सकते थे, जो परवर्ती काल में प्रगतिशील लेखक संघ की नियति के रूप में साहित्यिक मूल्यों के पक्षधर की आलोचना का विषय बना।

इस बिन्दु पर देश की आजादी की लड़ाई विप्लवी भूमिका में क्रियाशील अज्ञेय बेहद संवेदनशील और सचेत थे। उनकी कर्म–चर्चा के अनेक आयाम थे। सर्जनशील ऊर्जा इकहरी होती भी नहीं। अपने तमाम सांस्कृतिक आयोजनों में वात्स्यायन जी विवेक के सहज आग्रह से उनलोगों से जुड़े और सहज सद्भाव के साथ उन्हें अपना सहयात्री बनाया, जिनसे उनका वैचारिक विरोध था। संबंधों के प्रश्न पर रघुवीर सहाय से बातचीत करते उन्होंने अपना पक्ष स्पष्ट किया है–'विचारों में टकराहट हो और सहज संबंध बने रहें, ऐसे तो मेरे कुछेक मित्र हैं। ऐसे भी हैं, जिनसे मेरी ओर से संबंधों में कोई परिवर्तन नहीं आया, इसलिए कि उनका और मेरा विचार मतभेद है और ऐसे भी लोग हैं, जिनसे वैचारिक मतभेद नहीं है; लेकिन जिनसे सहज संबंधों को मैं बढ़ाता नहीं हूँ।' रघुवीर सहाय ने प्रश्न किया, 'लेकिन जहाँ सहज संबंध हैं, वहाँ आप किसी दूसरे व्यक्ति के जीवन में किसी तरह का दखल देना अच्छा या उचित या गैरजरूरी, क्या मानते हैं?' वात्स्यायनजी का जवाब था–'मेरी जो व्यक्तित्व की और उसके विकास की अवधारणा रही है, उसमें मैं किसी दूसरे व्यक्तित्व से सहज या कि प्रकृत विकास में बाधा देना गलत मानता हूँ। उसमें अगर सहयोग हो सकता है, तो वह सहयोग भी दूँ या न दूँ, इसमें भी इस बात का विचार उचित मानता हूँ कि उसे इसकी कोई अपेक्षा है या नहीं। तो उसकी स्वाधीनता को बनाये रखते हुए बने रहने देते हुए अगर सहयोग मैं दे सकता हूँ तो उसके लिए अपने को मुक्त मानता हूँ, नहीं तो और नहीं मानता।

'वात्स्यायनजी की यह कैफीयत, अहंकार तथा जटिल आभिजात्य के रूप में प्रचारित और काफी हद तक बदनाम उनकी मनस्विता को तथा उनके विवेक धरातल और नैसर्गिक औदार्य को भी सही रूप में समझने में सहायक हो सकती है। मुक्तिबोध और शमशेर बहादुर सिंह के प्रति उनका सद्भाव जगजाहिर और जाहिर है अज्ञेय का उस विचारधारा के प्रति अन्यथा भाव, जिस राजनीतिक विचारधारा से मुक्तिबोध और शमशेर का संबंध था। इस पक्ष के मर्म को सटीक कोण से न देखकर विपरीत प्रत्यय से प्रतिबद्ध लोग तरह–तरह के आरोप रचकर विभिन्न कोणों से उनपर आक्रमण करते रहे। वात्स्यायनजी की सर्जनशीलता तो अशिथिल रही, पर उनके मानस तंत्र पर अप–प्रचार और निराधार लांछन का असर होता था। किंचित् अमर्ष के साथ उन्होंने साहित्यिक साक्षात्कारों में जब–तब प्रतिक्रिया भी प्रकट की है।

स्वाधीनता का वात्स्यायन जी की दृष्टि में बड़ा मूल्य था। यही उनका सत्य था, जिसे नाना विधाओं और सास्कृतिक परिकल्पनाओं में रूपायित करने की साधना वे करते रहे–आजीवन। उनके जीवन की सांध्य वेला में उनके कुछ करीब पहुँचा था। व्यक्तित्व और व्यक्तित्व के सर्जनशील अनुशासन को पढ़ना शुरू किया था कि वात्स्यायन जी ने लोकयात्रा की राह छोड़कर परलोक की राह पकड़ ली।

समीक्षा

# किसी किसी पे ग़ज़ल मेहरबान होती है

## अशोक मिज़ाज़

दयानन्द जायसवाल
भागलपुर
मो०–9931240303

ग़ज़ल एक सुकोमल विधा है। यहाँ साँस लेने से सफ़ीन डूब जाते हैं, इसलिए ग़ज़लकार को ग़ज़ल की नाजुक ख्याली का ख्याल रखना पड़ता है। यूँ तो यह इल्म एक सागर है, इनकी शायरी कोई गणित नहीं जो कोई सीख ले, कोई गा ले या हर शायरी वज़्म में ले आये। यह ग़ज़ल तो सच ही किसी–किसी पे मेहरबान होती है। हर किसी को समन्दर में गोते लगाने पर भी मोती नहीं मिलता और यह विधा उस मोती खोज लाने जैसा दुष्कर काम है, जबकि अक्सर तो कंकड़ ही हाथ लगते हैं।

'किसी–किसी पे ग़ज़ल मेहरबान होती है' अशोक मिज़ाज की यह सृजन संवदेना जीवन के रंग–रूप की समग्रता को लिए हुए भाषाबद्ध कृतियों में आयी हुई सृष्टि सार्वजनिक है। इसमें व्यक्त चेतना रचनाकार की चेतना होते हुए भी दूसरों की चेतना से सम्बद्ध और सम्पृक्त है। कहीं–कहीं ये अंतर्मुखी होकर अपनी आत्मनिष्ठा में डूब जाते हैं और भीतर–ही–भीतर अपनी नि:संग निजता से जूझते–जूझते निजत्व को ही रचने लगते हैं।

मैं गम के अश्क़ों को पीने का बरसों से आदी हूँ
आज खुशी इतनी–सी पाकर भर आये हैं आँसू देख।

X X X X

हमने सोचा था कि उनका हाथ होगा हाथ में
क्या ख़बर थी हाथ में बस चिट्ठियाँ रह जायेंगी।

फिर भी एक खासियत है कि इनकी मानसिकता दूसरों की मानसिकता में रच–पच जाती है। आधुनिक युगबोध एवं परिवेश के संदर्भ में देखने का प्रयास किया है। सामाजिक कलानुभूति और सामूहिक जाग्रत चेतन का अभूतपूर्व सामंजन उपस्थित किया है। अपने विभिन्न प्रभाव स्रोतों में विभाजित अध्ययन को गंभीर व्यापकता, आकर्षक वैशिष्ट्यता प्रदान की है। सौंदर्य और उपयोगिता, व्यष्टि और समष्टि का अंतर नहीं है। नैतिक मूल्य भी अपनी उदात्त रूप में नैतिक दृष्टिकोण का पोषण करता है।

मानवीय संवेदनाओं के संप्रेषण का यह सरलतम माध्यम भी है और अत्यन्त सरल एवं सुलझी हुई भी। यह व्यवस्थित अभिव्यक्ति इनकी प्रतिभा और ग़ज़ल के स्वरूप में अप्रत्याशित विकास शृंखला में जाती है। अब ग़ज़ल की उपयोगिता और उपादेयता शीशमहलों तक सीमित न रही, बल्कि जन साधारण तक आ गयी है और लोग आनंद भी लेने लगे हैं।

ज़िन्दगी थाम लिया करते हैं बढ़कर लम्हे
वक़्त आने पे बदलते हैं मुक़द्दर लम्हे।

X X X X

हर घड़ी एक–सा मौसम भी कहाँ रहता है
हैं कभी फूल से कोमल, कहीं पत्थर लम्हे।

X X X X

अपने महलों की दरीचों से न देखा तुमने
मेरे मिट्टी के घरौंदे पे बरसता पानी।

X X X X

अब घरों में ही दुकानों की सजावट है यहाँ
अब किसे फ़िक्र है कि बाजार किधर लगता है।

X X X X

अब हमें खुद ही कोई राह बनानी होगी
अब कोई मील का पत्थर नहीं आनेवाला।

उन्होंने अपने ग़ज़लों में सूक्ष्म–से–सूक्ष्म संवेदनाओं को जिस खूबसूरती और तीखेपन के साथ सार्थक अभिव्यक्ति दी है, वह इनकी अपनी अलग पहचान बनाती है। ग़ज़ल और शायरी की दुनिया में बाहरी चमक–दमक अधिक समय तक नहीं टिकती, जबकि अशोक मिज़ाज साहब शोहरत की बुलन्दियाँ हासिल करने में कामयाब होते जा रहे हैं। अपनी विशेष शैली ओर शब्दावली के साँचे में ढालकर जो ग़ज़ल इन्होंने पेश की, वह लोगों की धड़कन बनती जा रही है तथा ज़माने का हाल बताने के लिए आईना

कल क्या थी और आज ये क्या हो गयी ग़ज़ल
ग़ज़लों की भीड़–भाड़ में ही खो गयी ग़ज़ल।

X X X X

कल मीर की थी और आज किसी और की हुई
चाहा जहाँ खुदा ने वहाँ हो गयी ग़ज़ल।

X X X X

एक खाँका खींचते हैं हम ख़यालों में
ज़िन्दगी ताउम्र उसमें रंग भरती है।

एक नया लहज़ा और नई आवाज अदा की। सुंदर, सुगठित शब्द योजन व घटना क्रमानुकूल ग़ज़ल विधान इनकी रचना का तन है तो भाव व्यंजना इसका मन तथा समाजहित कल्याणकारी अभिव्यक्ति ग़ज़ल की आत्मा। इन तीनों तन, मन और आत्मा का सम–सामयिक तालमेल निश्चय ही सराहनीय अतिविशिष्ट विशेषता है।

दिल बड़ा रक्खो कि सारे ग़म तुम्हें छोटे लगें।
एक दिन अपना ज़माना आयेगा, घबराओ मत।

X X X X

एक नया इतिहास लिखने के लिए उठ्ठो 'मिज़ाज'
हो गया जो हो गया, अब तुम उसे दुहराओ मत।

X X X X

नयी सदी में पुराने से कुछ ख़यालों को
नयी ज़मीन नया आसमान देना है।

प्रकृति के कोमल रमणीय दृश्यों से लेकर हृदय की रसात्मक अनुभूतियों तक के मार्मिक चित्र इनकी ग़ज़ल में कम नहीं है। सच तो यह है कि ग़ज़ल के भीतर कई स्वर हैं, कई शैलियाँ हैं, कई शिल्प हैं, कई भाव पद्धतियाँ हैं और कई जीवन दृष्टियाँ भी।

रोकती हैं रास्ता जब लाल–पीली बत्तियाँ
याद आती हैं मुझे वो गाँवों की पगडंडियाँ
इस नगर के शोर में है किसको फ़ुर्सत जो सुने

मस्ज़िदों की वो अज़ानें मंदिरों की घंटियाँ।
शैर करने के बहाने आओ गुलशन में चलें
कुछ वहाँ भँवरे मिलेंगे कुछ मिलेंगी तितलियाँ।

सौंदर्यवादी लोग यह न भूलें कि बंजर काले स्याह पहाड़ में भी एक अजीब वीरान भव्यता होती है, गली के अँधेरे में छोटे–से जंगली पौधे में भी एक विचित्र संकेत होता है। ऐसी गहन अनुभूति के क्षण इनकी रचनाओं में इतने भरे–पूरे हैं कि वे सौंदर्यानुभव के क्षण लगते हैं।

रचना प्रक्रिया वस्तुतः एक स्वायत्त प्रक्रिया है। यह किन्हीं मूल उद्वेगों और अनुरोधों के सहारे चलती है; क्योंकि ये उद्वेग और अनुरोध ही वह रोशनी है, जिसका सहारा पाकर आगे चलना होता है। जब कोई व्यक्ति किसी सुंदर वस्तु पर दृष्टि गड़ाता है, तो उसके पीछे उसकी आत्मा से छुपा कवित्व जाग्रत होता है, उसे किसी भी बहाव में बहा ले जाने को तैयार रहता है। उस समय उसका हृदय प्रकृति के कण–कण में सौंदर्य ही सौंदर्य परिलक्षित करता है, ठीक यही हुआ है अशोक 'मिज़ाज' के साथ। इनकी आत्मा से उद्भूत ग़ज़लें कभी पुरानी नहीं होंगी। इसका अपना मूल्य है। समाज की आवश्यकता का यह प्रतीक हो सकता है।

पाठक का हर अवयव झूम उठता है, झंकृत हो उठता है, आत्मसात करते समय इनके हर शब्द से सौंदर्य झलक उठता है। मिट्टी के हर कण तथा गुलाब के संगी काँटे में भी उसी सौंदर्य के दर्शन होने लगते हैं, जो उसे गुलाब में दृष्टिगत होते हैं।

इनकी हर ग़ज़ल में रोचकता और ग्राह्यता का गुण दिखता है। अनुभूतियों की ऐसी अभिव्यक्तियाँ हैं, जहाँ जीवन के समग्र रूप मिलन–वियोग, दुःख–दर्द, परेशानी–बेचारगी, संवेदना–संघर्ष, पारस्परिक सौहार्द से गुजरती हुई समाज को नवीन दिशा देती है।

कभी तो सोचो कि ख़ानदान किसका है
ज़मीन किसकी है ये, आसमान किसका है
अलग हैं फूल अलग रंग हैं अलग ख़ुशबू
ये रहमतों से भरा इत्रदान किसका है।

इन्होंने अंतर्मन के विभिन्न पक्षों और उसकी अनुभूतियों को उभारा है। विधा के विभिन्न रूपों को अपनी ग़ज़ल में याद किया है, जिन्हें प्रायः ग़ज़लकार की दृष्टि छोड़ देती है। कवि उसे अत्यन्त सजग, सरल और प्राणवन, बनाकर अपने इस संग्रह में सुरक्षित रखा है; यह उनकी विशेषता है।

भाषा, शैली तथा शिल्प की दृष्टि से भी इनकी ग़ज़लें अत्यन्त सरल और प्रभावी हैं। आम पाठक भी पढ़कर आनंदानुभूति कर सकता है। कहीं–कहीं इनकी अंतर्वेदना की टीस दंशित तो करती है, लेकिन वह सामान्य चिंतन के स्थल पर वैचारिक गहन गंभीर मंथन की ओर मुड़ जाती है।

मेरे विचार से इनके हृदय में मानव प्रेम का उद्भूत स्रोत है, जो यथार्थ को कल्पनात्मक धरातल पर साकार करने के लिए उनकी आह, चाह रूप में बह निकला है। उनके मन में जो अनन्य प्रेम है, उसके सहस्रों रूप हैं—आत्मीयता, न्याय, सहानुभूति, परोपकार, सार्वभौमिक सुख–शान्ति, सर्वसम्पन्नता आदि।

गिरा सको तो गिरा दो, ये नफरतों के महल
तुम अपने दिल में ज़रा भी दरार मत करना।

**कविता**

# मिट्टी की याद

रविशंकर सिंह,
रानीगंज, वर्धमान (पं.बं.),
मो०–9434390419

जब कोलतार की
सड़कों पर
मेरी एड़ियाँ घिसकर
छिल जाती हैं
पसीने से लथपथ देह
किराये के कमरे में
थककर अधमुँदी पलकों में
एक अति परिचित छवि
उभर आती है।
एक भोला गँवार
जिसे मैं गाँव की सरहद पर
पाकड़ की छाया में
छोड़ आया था
मुझे बेतहासा टेरता है–
'कबतक लौट आओगे?'
उसकी पुकार सुनकर लगता है
जैसे आम की झुकी डालियों ने
मुझे बुलाया हो
रेशमी दूबों ने
मेरे तलुओं को सहलाया हो
बाँस की फुनगी पर
पुरनमासी का चाँद बैठा हो
सरसों के खेतों में बसंत
पीली धोती पहनकर लेटा हो।
यकायक
कारखाने का सायरन
मुझे झाँक लगाता है
मेरा सपना
धमाके से डरे पक्षियों–सा
बिखर जाता है।
मैं गाँव वापस जाने के सपने
रोज देखता हूँ,
अपनी मिट्टी से कटने का दर्द
कहाँ भूलता हूँ।

भेंट वार्ता

## मैं इनसे मिला था

# संघर्ष कोख से उपजी : एक साहित्यकार

(दलित चिंतक रमणिका गुप्ता)

**डॉ० गिरिजाशंकर मोदी,**
सिकन्दरपुर, भागलपुर
मो०–9934095639

अवचेतन मन के गुह्य संसार में, परिस्थितिजन्य अनेक सवाल अपना समाधान खोजने, उत्तर की प्रत्याशा में सतत संगृहीत होते रहते हैं और अनुकूल अवसर आते ही प्रश्नानुसार जिज्ञासाओं के समाधान होते जाते हैं। –बीज प्रकृति में नियमतः यही होता है।

विगत कई दशकों से मैं एक ऐसी महिला शख्सियत को निकट से देखना, समझना और जानना चाहता था, जिन्हें लेकर मुझमें अनेक सवाल गहराते रहे थे और उन सारी जिज्ञासाओं के उत्तर मुझे गत साल प्राप्त हुए, जब मैं अपनी काव्य पुस्तक 'संवेदनाओं के क्रान्ति बीज' के प्रकाशन के क्रम में उनके निवास पर, उनसे मिलना और फिर उसने लगातार चार दिनों की बातचीत ने मेरी उन सारी बातों का समाधान कर दिया, जो मैंने उन्हें पढ़कर कई बीते दशकों में जाना था।

यह विरल महिला है रमणिका गुप्ता, जो अपनी बुद्धि, तर्क और विवेक के वैचारिक संकल्प की दृढ़ता में विरोध और विद्रोह के हवनकुंड की लपटों से पैदा हो, शोणित , पीड़ित, वंचित और प्रताड़ित मानवता के हित, उनके जीवन के हर मोर्चे पर मौत से जूझती हुई झण्डावरदार बनी रही हैं। पाखंड, अंधविश्वास, धर्मान्धता और कुरीतियों के खिलाफ लड़ती हुई ये आदमी आड़े आनेवाले विश्वासों, आस्थाओं और धर्मों, यहाँ तक कि ईश्वर के खिलाफ भी नारेबाजी में अग्रणी रही हैं। इस शख्सियत ने राजनीति और राजनेताओं के दोगलेपन और उनकी काली पलटनों की करतूतों को निकट से देखा व भोगा है। कोयला खदानों के मजदूरों के लिए किये गये अपने संघर्षकाल में यूनियन नेता के रूप में इन्होंने सामन्तों, जमींदारों, राजनेताओं, गुंडों और कोल माफियाओं से लोहा लेने हेतु ये अनेक बार मौत के आगोश से बाहर निकली हैं, पर कभी समझौता नहीं किया। इन्होंने अपनी महत्त्वाकांक्षा के सामरिक जीवन में आकाश में उड़ने को अपने डैनों को सदा खुला रखा है। यह वह नारी मन है, जिसने एक ओर जहाँ प्रेमी की पराकष्ठा को जीया है, वहीं दूसरी ओर विच्छेद और विछोह को गीता की स्थितप्रज्ञता के रूप में जीया है तथा उपनिषद् की चरैवेती–चैरवेती इनके जीवन का मूलमंत्र रहा है और फिर शब्दों को हथियार बनाती हुई, दर्दों के अंतःपर्तों के खोलती, अपनी संवेदना की दुनिया के साथ साहित्य में समर्पित होकर अपनी ख्यात पत्रिका 'शुद्धरत आम आदमी' विगत चार दशकों से अनवरत प्रकाशन और पुस्तकों की सर्जना कर एक कीर्तिमान स्थापित किया है। जहाँ ये दलित और आदिवासी साहित्य की दुनिया के सशक्त हस्ताक्षर हैं। इन्होंने अन्याय के रूप में पीड़ित नारियों, दलितों एवं आदिवासियों को अपने साहित्य में समेटे, साहित्य में जो शोध कार्य किया है, वह एक ऐतिहासिक दस्तावेज है।

रमणिका जी का लेखन, इनका निकट से देखा और खुद का भोगा गया यथार्थ है, यह मात्र कल्पना रचित बैठकखाने का साहित्य नहीं; यहाँ से एक एक्टिविस्ट सर्जक के रूप में अन्य साहित्यकारों से अलग है। इनका साहित्य इनकी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा में सृजित नहीं, बल्कि आदमी को पीड़ा का समाधान खोजनी उसके कारकों के खिलाफ युद्ध की घोषणा है। इनके लेखन और जीवन में कहीं कोई विसंगतियाँ नहीं हैं। ये जीवन के ईमानदार भावनाओं के शब्द संसार में जीती रही हैं। ये अपने पारदर्शितापूर्ण जीवन की अनोखी कहानी है, जहाँ कोई दुराव–छिपाव नहीं। इनका साहित्य नारी के स्वतंत्र वजूद और अस्मिता के मर्यादित जीवन के लिए मनुवादी अवधारणाओं के तहत नारी मन को, यौन कुंठाओं से ग्रसित हीन भावनाओं से जर्जर होने नहीं देना चाहिए।

मुझे जब ऐसी ही इन्किलाबी बहुआयामी व्यक्तित्व के नारी मन को खँगलाने का सुखद अवसर मिला, तो उनकी सुनी और पढ़ी बातें एक साथ साक्षात् खड़ी मिलीं।

उनसे पहली मुलाकात में ही मुझे लगा कि मैं एक सच्चे साहित्यकार से मिल रहा है, जिनका भीतर और बाहर एक समान है। उनके संवेदनात्मक पक्षों ने मुझे अभिभूत कर दिया। सहयोग की जितनी बातें मैंने सोची थीं, ये उससे कई कदम आगे थीं। किताबों से घिरे अपने वेद के समीप इन्होंने बड़ी आत्मीयता से बैठने को कहा। दिन के 1 0 बजे मैं इनसे मिला था और ये उनींदी दीख रही थी। बोली मैं रात के 3 बजे तक आपकी काव्य पुस्तक 'संवेदनाओं की क्रान्ति बीज' की पांडुलिपि पढ़ती रही थी, उसे समाप्त कर ही सोयी। पांडुलिपि जब मैंने पलटकर देखा तो उसमें जगह–जगह अधोरेखांकन और टिप्पणियाँ थीं; पचासी के पार की उम्र में भी इनकी इस कार्यक्षमता ने मुझे विस्मित किया।

लगातार चार दिनों तक उनसे मिलने का क्रम जारी रहा, साहित्य और उनसे जुड़े जीवन के विभिन्न पहलुओं की चर्चाएँ होती रहीं। उनके संघर्षरत जीवन की परतें एक–एक कर खुलती रहीं। इनका सब कुछ उनके दुस्साहसपूर्ण जीवन जीने का एक अप्रतिम आख्यान है। इनका सब कुछ एक जिद्द के तहत जो ढाल लिया, सो ढाल लिया है। मूल्यों के लिए जान की बाजी लगा देना इनकी दिनचर्या है।

अपनी मुलाकात के अंतिम दिन, भागलपुर लौटने से पूर्व मैंने कहा–दीदीजी, बहुत सारे सवाल मुझमें गहरा रहे हैं, क्या उन सवालों के साथ आपसे गुजरूँ?बात छूटते ही इन्होंने झट से कहा–मैं तो बैठी ही हूँ, पूछिये। यों तो मुझे एक आयोजन में जाना है, पर जवाब देकर ही जाऊँगी। इनकी बेहिचक साफ सुधरी बातें और गहराई से शब्द पाते पारदर्शी उत्तर की ईमानदार शृंखला पर उनके उभरे व्यक्तित्व ने जहाँ मुझे स्तब्ध कर दिया, वहीं इनकी स्वतंत्र तार्किक चिंतन की निर्भीक बातों ने मुझे जीवन के कुछ नव्य आयामों के बीच सोचने को मजबूर किया। प्रश्नों के स्पष्ट उत्तरों के साथ इन्होंने बीच–बीच में अपने बीते जीवन के कई अंतःपर्तों को उधेड़ उस पर बेवाक टिप्पणी की। इनके विचारों और अवधारणाओं में कहीं कोई आवरण न था और न आसमान छू लेने की कोशिश में इन्होंने जमीन छोड़ी थी।

मैं जानता था कि इनके जीवन का जो आखिरी पड़ाव है, वह इनका साहित्य है, जहाँ ये शब्दों को हथियार बना मूल्यों की लड़ाई के महाभारत में

है–जहाँ कविताएँ विशेष रूप से क्रान्ति का हरावल दस्ता बन जनमानस को आंदोलित व ऊर्जस्वित कर उसे एक सही दिशा देती हुई समय के साथ उसकी चुनौतियों का सामना करती जीती है। इसलिए मैं इनसे इनकी कविताओं में इनकी मनोस्थिति जानना चाहा कि क्या आज की कविताएँ जिनके लिए लिखी जा रही हैं, उन तक पहुँचती हैं?क्या कवियों को बिना एक्टिविस्ट हुए आज की कविताएँ, जो जनपक्षीय हैं, अपने लक्ष्य को बोध पायेंगी?मैं यह भी जानना चाहूँगा कि क्या साहित्य आपको विरासत में मिला है?

कुछ क्षण बाद बड़ी गंभीर मुद्रा में अपने बीते दिनों में समाती हुई इन्होंने अपनी बातें सहज होकर रखीं–'मेरे पिताजी प्यारेलाल वेद भी कविता किया करते थे। मेरी भाभी नृत्यांगना थीं, वे स्वयं रवीन्द्र संगीत पर भाव नृत्य करती थीं। कविता लिखना मैंने 14 वर्ष की उम्र से ही शुरू की थी। मेरी पहली कविता 1945 में जन्म व मृत्यु पर थी। मृत्यु शीर्षक कविता मैंने अपनी दादी के निधन पर अपनी संवदेनात्मक स्थिति पर लिखी थी। इसके बाद मैं प्रेम और प्राकृतिक सौंदर्य पर कविताएँ लिखीं। मैंने प्रेम भी किया और प्रेम विवाह भी, वह भी अंतर्जातीय, परिवार के काफी विरोध के बावजूद। मैंने अपने भावनात्मक और संवेदनात्मक जीव में तथाकथित पारंपरिक मूल्यों को आड़े आने नहीं दिया। जब चीन और पाकिस्तान का आक्रमण देश पर हुआ था, तो मैं काफी सक्रिय भूमिका में थी। साहित्यिक, सामाजिक, प्रशासनिक और राजनीतिक स्तर पर पूरे बिहार में मेरी चर्चा थी। मैं घूम–घूमकर क्रान्ति गीत गाती थी। सिविल डिफेन्स का प्रशिक्षण ली थी, राइफल चलाना सीखी थी और मैं जीपवाली दीदी कहलाने लगी थी। अपने सैनिक भाइयों के लिए चंदा इकट्ठा करती थी। उस समय मेरी निम्न कविता बड़ी ख्यात थी–'रंग विरंगी तोड़ चूड़ियाँ, हाथों में तलवार गहूँगी, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी, मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।'' यों कहिये कि मैं उन दिनों एक्टिविस्ट साहित्यकार के रूप में थी और लगता था कि कविताएँ अपने उद्देश्य की पूर्ति में हैं। धनबाद में मैंने देशप्रेम की कविता से शुरुआत की थी।

बाद के दिनों में मुझे कोयला खदान के अंचलों में, धनबाद, झरिया, बोकारो और हजारीबाग में खान मजदूरों, कामगारों और महिला आदिवासियों की दुर्दशा, शोषण और उत्पीड़न ने बहुत संवेदित किया और तब से मैं उनके लिए संघर्ष में जुट गयी और यहाँ से फिर मेरी इंकिलाबी कविता का दौर चला। मंचों पर, मजदूरों की बस्तियों में, उनके लिए छोड़े अभियान की कविताएँ होने लगीं। संघर्षकाल के भोगे जीवंत पीड़ाइनों के बीच कविताएँ अपने विकास की ऊँचाई पाने लगीं। यह सत्य भी उद्घाटित हुआ कि संघर्ष काल में सृजित कविताएँ उत्कृष्ट कविताएँ होती हैं। खदान अंचलों में उन दिनों मेरी कविताओं की धूम थी। मैं उन दिनों दबे–कुचले आदिवासियों की झोंपड़ियों में रहती थी। उन्हीं का जीवन जीती थी और उनकी पीड़ाओं के साथ उनके लिए क्रान्ति गीत का सृजन करती थी। जमीन और जंगल से उनके विस्थापन के खिलाफ, हजारों हजार की संख्या में कई बार जेल की यात्रा की थी और अपनी कविताओं से उन्हें ऊर्जस्वित और प्रोत्साहित करती थी। साहित्य के क्षेत्र में आज जो दलित लेखक है, वे सामाजिक न्याय, अधिकार और सम्मान की लड़ाई लड़ रहे हैं। वे प्रायः एक्टिविस्ट की भूमिका में है। परिस्थितियाँ आज यह है कि सुविधाभोगी मध्यवर्ग सारी सामाजिक क्रान्तियों के आड़े आ रहा है। उनके आम हितचिंतन की बातें नहीं रही हैं। वे दिन व दिन घोर व्यक्तिवादी हो रहे हैं। आज की बाजारवादी संस्कृति में मध्य वर्ग अपने लिए स्तरी सुविधाएँ समेट लेने की होड़ में गरीबों से नफरत करते हैं और अमीरों से प्रेम, जबकि वे खुद गरीब हैं। ये अमीरों और गरीबों के बीच बफर स्टेट बने हुए हैं। यों कटु सत्य यह है कि मध्यवर्ग पूँजीवादियों का ऐलसिसियन डॉग बनकर यदा–कदा भूँकता रहता है, पर किसी को काट पाने की क्षमता नहीं रखता। साहित्य तो मूल्यों के हित में समय की चुनौतियों का सामना करता है। साहित्यकारों को तो खुद से निकलकर आम आदमी की परिस्थितियों के बीच जीना है। यह साहित्य और जीवन दोनों का विस्तार देता है। मैं अपने जीवन के चालीस साल इसी रूप में गुजारी हूँ।

साहित्य की आज की स्थिति यह है कि यह आम आदमी से दूर चली जा रही है। इसके कारणों की तलाश होनी चाहिए। खासकर कवियों को आज अपनी कविताओं के साथ एक्टिविस्ट होना होगा। जिनके लिए कविताएँ लिखी जा रही हैं, उन तक कविताएँ पहुँचनी चाहिए, ताकि वे समझें कि कविताओं में उनका ही दर्द और फिर उसका निदान भी है। लेखक मनुष्यता के खिलाफ जो हो रहा है, उससे मुठभेड़ करता है। जो लोग खतरे के डर से सकारात्मक बदलाव की भूमिका में नहीं पलते, वे लेखक नहीं हो सकते। आज कविता शहरी जीवन के बैठकखाने की उपज हो रही है, जहाँ दर्द है, पीड़ा है, उत्पीड़न और शोषण है, जहाँ कराह और भूख है, वहाँ कविताएँ नहीं हो रहीं। शहर के सुविधा भोगी साहित्यकार सोचते हैं कि वे एक्टिविस्ट होकर नहीं लिख पाएँगे। उन्हें साहित्यकार की ख्याति चाहिए, समाज और व्यक्ति के लिए साहित्य उनका उद्देश्य नहीं। साहित्य आज निहित महत्त्वाकांक्षा की चीज हो गयी है।

फिर मैंने इन्हें साहित्य से अलग करते हुए पूछा–दीदीजी, आप अपने जीवन के वसंत काल बीहड़ों और जंगलों में संघर्ष करती, पुरुष साथियों के साथ गुजारी हैं, फिर राजनीति में प्रवेश के बाद बिहार विधान सभा और परिषद् की सदस्या के रूप में राजनेताओं के साथ गुजारी है, पुनः कच्छ की लंबी यात्रा भी अपने पड़ावों के बीच, आपने अपने पुरुष साथियों के साथ की है। ऐसी बातें हवा में हैं कि राजनीति से जुड़ी महिला की अस्मिता के साथ कुछ अच्छा नहीं गुजरता, कुछ स्पष्ट करना चाहेंगी। इन प्रश्नों के आलोक में राजनीति और यौन संबंधों की उनकी बेवाक और बेपर्द कथन ने मुझे बगल झाँकने को मजबूर कर दिया। ऐसी निर्भीक और स्पष्टवादी महिला से मेरा पहला संवाद था। अपनी अनुभूतियों और भोगे गये यथार्थ की चोट खाते मन की गहराई से उन्होंने कहा–'राजनीति में महिला को पुरुष नेता का सहारा लेना पड़ता है, बिना पुरुष देह की लतिका बने वह फुनगी तक नहीं पहुँच सकती है। राजनेताओं की द्विअर्थी बातों के बीच उन्हें थेथर बनकर जीना होता है और अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा के डगर पर चलती हुई वह कालक्रम में वहाँ यौन संबंधों के अपराध बोध से मुक्त हो जाती है।' 'मुझे भी अपनी खास रणनीति के तहत कुछ परिस्थितिजन्य समझौते करने पड़े थे, पर यह मैं अपने को बेवश और असमर्थ मानते हुए नहीं किया था। मैं फ्राइड की मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं से सहमत हूँ। इसलिए मैं यौन संबंधों में कोई कुंठा नहीं पालती और यौन इच्छाओं को कमजोरी से नहीं जोड़ती। मैं इसे एक प्राकृतिक जरूरत के तौर पर स्वीकार करती हूँ।' 'मैं अपनी राजनीति के शुरुआती दौर में कांग्रेस में थी। फिर कांग्रेस छोड़कर संयुक्त सोसलिस्ट पार्टी में शामिल हो गयी थी। प्रारंभ में कांग्रेस के प्रति जो मेरी सोच थी, वह बिहार आकर खत्म हो गयी थी। कांग्रेसियों की यहाँ यह स्थिति थी कि वे स्त्री कार्यकर्ता को अपना कलेवा मानते थे। भूख लगने पर वे स्त्रियों को स्वार्जित

जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। लेकिन मैं कभी भी उनकी इस मान्यता के साथ न थी। किसी का सहारा ले मैं फुनगी तक पहुँचना चाहती थी। इसलिए कांग्रेस के बहुत सारे नेतागण मुझसे चिढ़ते थे और नाराज रहते थे। मैंने कभी उनकी परवाह न की थी और कभी–कभी थप्पड़ भी जड़ने पड़े थे। इन परिस्थितियों के बीच मैंने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया और संयुक्त सोसलिस्ट पार्टी में आ गयी। इस पार्टी में औरतों के प्रति सोच कुछ अलग थी। अपनी औरतों को छोड़कर दूसरों की औरतों को स्वतंत्र देखने में वे काफी उदार थे। लेकिन समाजवादियों में सेक्स के प्रति दूसरों से भिन्न कुछ अवधारणाएँ थीं, खासकर युवा वर्ग में। वे मुक्त यौन संबंधों के समर्थक तो थे, पर जबरन संबंधों के नहीं। इसके राजनेताओं में ही ऐसे संबंधों को लेकर आपसी ईर्ष्या भी पनपती रहती थी। 1967 में पाकिस्तान को कच्छ के कुछ गाँव देने के भारत सरकार के निर्णय के खिलाफ संयुक्त सोसलिस्ट पार्टी और जनसंघ आंदोलनरत थे। इसी आंदोलन के क्रम में सोसलिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता कच्छ की यात्रा पर थे। मैं भी अपने ग्यारह साथियों के साथ उस यात्रा में थी। मेरे साथ एक दलित महिला भी थी। यात्रा के क्रम में एक ट्रक चालक द्वारा अभद्र व्यवहार किये जाने पर वह महिला भयभीत हो गयी थी और बीच में ही यात्रा छोड़कर वह वापस चला जाना चाहती थी। मैंने उस महिला को समझाया था कि हम देश के खास मिशन पर हैं, कठिनाइयाँ आएँगी, पर मिशन सर्वोपरि है। द्वितीय विश्वयुद्ध में रूस पर जब हिटलर ने हमला किया था और नाजी सेना अंदर तक प्रवेश कर चुकी थी, तो जवान रूसी लड़कियाँ अपनी आवरू की चिंता न कर दुश्मनों की गुप्त सूचनाएँ अपने देशवासियों को लाकर देने के लिए रात–रात भर जर्मन अफसरों के कैम्पों में गुजारती थीं। दलित महिला ने अपने लौटने का निर्णय रद्द कर दिया और कच्छ में गिरफ्तारी दी।

फिर में रमणिका जी के राजनीतिक जीवन से हटकर साहित्य में प्रवेश करते हुए उनसे पूछा–'आप राजनीति छोड़कर पूर्णकालिक साहित्य साधना में जुट गयीं, इसके पीछे आपका तर्क जानना चाहूँगा।' 'मेरा मुकाम है पीड़ित मानवता के दर्दों के खिलाफ अनवरत संघर्ष और वह मैं साहित्य के माध्यम से ही कर पाऊँगी और कर रही हूँ। जहाँ–जहाँ उनकी कराह और आह है, वहाँ मैं खड़ी रहती हूँ। उन हाशिये की जमातों के प्रति दृष्टिकोणात्मक बदलाव लाने उन्हें हीन भावना से मुक्त कराने उन्हें आत्मविश्वास और आत्मसम्मान के साथ जीने, उनमें लड़ने का मन देकर, उनमें लीडरशिप विकसित करने में मैं समर्पित हूँ।

इसके बाद काव्य मंच और दलित साहित्य की बातें आयीं तो इन्होंने टिप्पणी की–'आज काव्य मंच दिशा हीन हो अपने उत्तरदायित्वबोध से अलग है। यह समय की चुनौतियों को अनदेखा करता हास्य–व्यंग्य के भोड़े प्रदर्शन और दैहिक सौंदर्य जनित प्राकृत भावनाओं को उजागर करने में है। यह एक गैर जिम्मेदाराना हरकत में मनोरंजन की वस्तु बन गया है।'

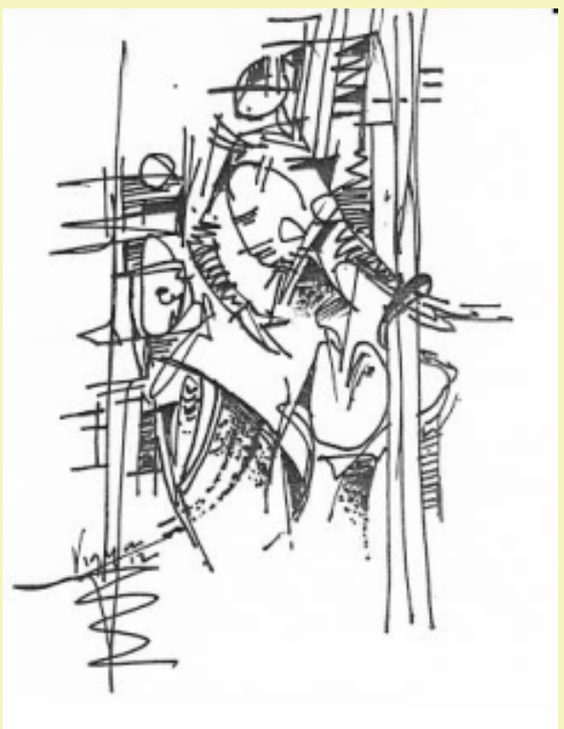

दलित साहित्य की बात आने पर इन्होंने कहा–'समय की पुकार के साथ दलित साहित्य आज दलितों, शोषितों, वंचितों के लिए संघर्षरत है। यह उसके सामाजिक न्याय, उसकी पहचान और उसके आत्मसम्मान के लिए लड़ रहा है। वास्तविकता यह है कि समाज में बदलाव लाकर उसे लोकतांत्रिक बनाने का काम किसी राजनेता या सरकार से संभव नहीं, इसके लिए जिस सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता है, वह संस्कार, संवेदना और मनोभावना साहित्य ही पैदा कर सकता है। आज देश को एक राजनेता नहीं, समाज सुधारक चाहिए। जहाँ साहित्य की जबर्दस्त भूमिका है। साहित्य समाज बदलने का एक कारगर हथियार हो सकता है।

फिर इन बातों से अलग हो मैं इनके बचपन में लौट आया और इनसे प्रश्न किया–'सुना है आप बचपन से ही क्रान्ति धर्मी और विद्रोही स्वभाव की थी, जो बातें आपकी तर्क बुद्धि में न समाती थी, आप उसके खिलाफ तत्काल खड़ी हो जाती थी।' मुस्कुराते हुए इन्होंने कहा–'यदि मैं जिद्दी न होती और अपने हकों पर नहीं अड़ती, तो आज मैं कहीं गृहिणी बनी 8–10 बच्चों की माँ बनी रोटियाँ पका रही होती। समाज में बदलाव लाने के लिए जरूरत होती है जिद्द की और अपना घर छोड़ने की हिम्मत की। मैं तो बचपन से ही गलत परंपराओं, रूढ़ियों, पाखंडों, कुरीतियों और अंधविश्वासों के खिलाफ रही हूँ। यहाँ तक कि धर्म और ईश्वर के खिलाफ भी मैं आवाज उठाती रही हूँ। मैं धर्म और ईश्वर की नहीं, आदमी की बातें करना पसंद करती हूँ। मुझे लड़ियाँ तोड़ने में बड़ा मजा आता था। अधिक मजा तो तब आता था, जब लोग इस पर तिलमिलाते थे। मुझे अपने परिवार में विद्रोही और जिद्दी का दर्जा मिला था; क्योंकि पर्दा प्रथा का विरोध कर बिना सिर ढके बाहर आया–जाया करती थी। जब भी परिवार के साथ बाहर जाना होता, माँ कहती–तुम हमलोगों के पीछे अलग होकर चलो। मुझे हमेशा सामाजिक क्षेत्र में अपनी अलग पहचान बनाने की धुन रहती थी। कभी भी छाया बनकर जीना मैंने पसंद नहीं किया।

इन बातों के बीच समय लंबा खींचा गया और इन्हें पूर्वनिर्धारित किसी कार्यक्रम में जाना था। मैं उनके चेहरे से इन बातों को ताड़ रहा था। अतः क्षमा माँगते हुए, उनसे विदा हो गया।

कविता

**डॉ. महाश्वेता चतुर्वेदी**
बरैली, उत्तर प्रदेश
मो०–9719687166

## 1. यंत्र संचालित खिलौने

सभ्य से जो लोग लगते, यंत्र संचालित खिलौने।
चाबियाँ जबतक भरी हैं, नाचते हमलोग मिलेंगे।
देख वासन्ती घटायें, मन नहीं जिनके खिलेंगे।
मानवों के बीच जाकर, दीखते जड़ और बौने।
टीन का आकार जिनका, फिर हृदय ढूँढ़े वहाँ क्या?
एक ठोकर प्राप्त करके, चल रहे अस्तित्व खोने।
चंदनी वन को मिटाकर, सींचते विष बेल को है।
दाहकर बदली करुणा–घन, रच रहे किस खेल को हैं?
चाहते पाना मधुर फल, चल रहे विष बीज बोने।

## 2. तुम क्षार नहीं हमको कहना

जलने पर हम अँगारे बन, प्रलयानल को धधकायेंगे।
प्राणों का हनन किया जिसने, उसको भी सबक सिखायेंगे।
हम ऊर्जा हैं तरुणाई की, बस ज्वार नहीं हमको कहना।
जिसने झंझाओं के आगे, मस्तक न झुकाना है सीखा।
बस चिर अनन्त को छोड़ जिसे, कोई न नियामक है दीखा।
इस सिंधु मरुस्थल कर सकते, निस्सार नहीं हमको कहना।
जिसकी हड्डी से वज्र बने, हम वह दधीचि बन सकते हैं।
दुर्गा काली विकराली बन, महिषासुर को दह सकते हैं।
आवाहन हम कर्तव्यों का, अधिकार नहीं हमको कहना।
स्वर्णिम स्वप्नों के जो दाहक, है अंधकार के संवाहक।
ऐसों को हम हैं शौर्यगान, झंकार नहीं हमको कहना।
बाधाओं के मूर्च्छित जग में, हम क्रांति तूर्य के हैं साधक।
तुम कर्मयोग के विश्वासी, हम वैदिक जग के आराधक।
मर्यादा के बन्धन रखकर, अतिचार हमको नहीं कहना।

## 3. मन में आग नयन में सागर

मन में आग, नयन में सागर, कैसे हम समझायें।
प्यास बुझाने के हित हरपल, गरल मिला करता है।
वासन्ती ऋतु में हमको, पतझार खिला करता है।
खुद को सुधा–चषक चर्चा में, कैसे हम उलझायें?
उत्तर जटिल प्रश्न का देना, प्रतिदिन की है बात।
यही समय ने सौंपी है, इस जीवन को सौगात।
लगती जो अनबूझ पहेली, कैसे हम सुलझायें।
एक हाथ से बजी न ताली, जग कहता है आया।
चंचल प्रतिबिंबों को पाने, क्यों हमको बहकाया?
रुख न मिलाते जो उनसे फिर, कैसे हम खुल जायें?

## 4. युग परिवर्तन

परिधान बदलना ही केवल, क्या युग परिवर्तन कहलाया?
है आत्मतत्व शाश्वत जग में, सब देह बदलती रहती है।
स्वर सात रहें चाहे वीणा, आकृति से छलती रहती है।
है गान वही गायक नूतन, क्या वह आवर्तन कहलाया?
ऋतु धर्म सत्य दर्शन समरस, है रहा मनोविज्ञान एक।
सापेक्ष द्वन्द्वउत्थान–पतन, सुख में सबकी मुस्कान एक।
है यंत्र एक, पुर्जे नूतन, क्या यह विवर्तन कहलाया?

## 5. फिर भी बेघर

कहने को निर्माता घर के, फिर भी बेघर हम कहलाये।
पानी–सा स्वेद बहाकर के, प्रासाद किये हमने निर्मित।
सुख–सुविधाओं के साधन जो, रहत हरपल जिनमें संचित।
हमने स्वप्नों के पंख रचे, क्यों बेपर हैं हम कहलाये।
हम व्यापारों के संचालक, श्रम ही श्रम के हैं आराधक।
चाहे आँधी हो या पानी, हम कर्तव्यों के संवाहक।
फल धन सौंपा है औरों को, निर्धन बेघर हम कहलाये।
जिनकी कुटिया तक जाने में, संकोच मौत भी करता है।
रोटी मिलती जो नमक संग, वही हमको जीवित रखती है।
यंत्रों उद्योगों की ऊर्जा, उनके जेवर हम कहलाये।
फिर भी बेघर हम कहलाये।
वे रक्त–मांस खाये हरपल, हम मौन सहन करते जायें।
हो सभ प्रांत उनके खुद को, हम संतों से भरते जायें।
ऐसे लोगों के स्वामिभक्त, जीवन देकर हम कहलाये।

कविता

# आदमी को आदमी का प्यार दो

**आचार्य बलवन्त**
हिंदी विभागाध्यक्ष,कमला कॉलेज
कोंटनपेट, बेंगलूरु, 9844558064

उजड़ न जाये आशियाँ, ये आशियाँ सँवार दो
धर्म पर जो धारणा है द्वेष की, उतार दो।
गीत को गजल, गजल को गीत का शृंगार दो।
जल रही जमीं, तपिश है उठ रही आँगन–आँगन।
आँसुओं में बह रहा लहू हर एक नयन–नयन।
सुबक रही कली–कली, सिसक रहा हर एक सुमन,
न मुस्करा रही धरा, न गीत गा रहा गगन।
मृदु वचन, मृदुल नयन से फिर उन्हें पुकार दो।
गीत को गजल, गजल को गीत का शृंगार दो,
आदमी हो, आदमी को, आदमी का प्यार दो।
देखिये नजर उठाके जंग हर तरफ छिड़ी।
सैन्य शक्ति सामने है रक्त के लिए अड़ी।
माँ बिलख रही, बहन कराहती खड़ी–खड़ी,
चीखती है पालने में लाडली पड़ी–पड़ी।
साधना की अंजलि से आरती उतार दो।
गीत को गजल, गजल को गीत का शृंगार दो,
आदमी हो, आदमी को, आदमी का प्यार दो।
साँस कब, कहाँ रुके, नहीं किसी को कुछ पता।
किस भँवर में कौन, कब, कहाँ पर होगा लापता।
मोड़ पर ही छोड़कर कोई कहेगा अलविदा,
कौन जानता है कब टूटेगा सारा वास्ता?
प्यार के ही गीत दो, न द्वेष की कटार दो।
गीत को गजल, गजल को गीत का शृंगार दो,
आदमी हो, आदमी को, आदमी का प्यार दो।

## 2. रंगों का पर्व

रंग–गुलाल से तर–ब–तर
दो वर्गों के लोग आपस में ही भिड़ गये
बाबा ने नन्दू से पूछा, 'यह कोहराम कैसा है बेटा?'
नन्दू ने बताया–'बाबा! आज होली है न,
लोग मना रहे हैं, गा रहे हैं
होली के नाम पर हुड़दंग मचा रहे हैं,
होश में नहीं लगते, चलने में लड़खड़ा रहे हैं
नन्दू ने भी रंग–गुलाल लिये बाबा के पास आया।
उनके सूखे होंठ और पकी दाढ़ी को सहलाया।
फिर बोला–बाबा! हमें आशीर्वाद दीजिए
कि हम ऐसी होली कभी न मनायें,
ऐसी निकम्मी होली से हमेशा बाज आयें,
फिर फफक कर रो पड़ा।
बोला–'बाबा! अपने हाथों मुझे अबीर लगाइये न,
कोई फाग, बसन्त का गाइये ना।'
आँखों से पूरा व्यक्तित्व लाँछित था बाबा का,
वक्त की नियति और समय के क्रूर मजाक पर मुस्कुराये
अपने प्यारे नन्दू की अंगुलियाँ पकड़ अबीर लगाये।
और दुआएँ दीं–'बेटा! तुम्हारी यही उमर हो
जब भी होली आये।
बाबा के सूखे होंठ चूमे और पकी दाढ़ियाँ सहलाये।
बाबा ने कहा–'मैंने बड़ी दुनिया देखी है इन आँखों से
और बहुत पछताया हूँ कि कैसे हैं ये लोग
जो आँखें होते हुए भी देख नहीं पाते,
बार–बार सुनते हैं, समझ नहीं पाते।'
मैं कहते–कहते हार गया
मैं कहते–कहते हार गया मैं कहते–कहते हार गया,
क्यों असरहीन हर बात हुई क्यों कहना सब बेकार गया,
पहले मैं जो भी कहता था
वो सारा कुछ सुन लेता था,
जो उससे कह न पाता था
वो उसको भी गुन लेता था,
ऐसा लगता खो आज कहीं पहले वाला किरदार हो गया,
मैं कहते–कहते हार गया मैं कहते–कहते हार गया,
अब जो भी कहता हूँ उससे
आनाकानी कर जाता है,
जो मेरे मन की करता था
वो मनमानी कर जाता है,
कल तक जो हद में रहता था वो कैसे हद से पार गया,
मैं कहते–कहते हार गया मैं कहते–कहते हार गया,
लेकिन मैंने भी सोच लिया–
मैं हाथ न उसका छोड़ूँगा,
देखूँ–कब तक जिद करता है
मैं साथ न उसका छोड़ूँगा,
उसने ये जाना तो बोला–"तुमसे जुड़ मन का तार गया,
प्रिय, जीवन मैं ये मत कहना–मैं हार गया–मैं हार गया,"

# लोकवाणी

संस्थापक! 'संसुभाव्य' (भागलपुर)
आदरणीय जायसवाल जी,
नमस्कार,
दो वर्ष पूर्व जब मेरे दो–चार लेख प्रकाशित हुए, कुछ पत्रिकाएं स्वतः मेरे पास आनी आरंभ हुई। चूँकि वर्षों से मेरा सामाजिक जीवन बहुत सीमित रहा, आकादमिक और बौद्धिक तो बिल्कुल नहीं अतः बदले हुए परिवेश की तमाम बातों से अनभिज्ञ रही। आने वाली पत्रिकाओं में संभाव्य भी शामिल हुई। चूँकि क्रान्तिकारी आंदोलन मेरा विषय रहा है, समय भी मेरे पास सीमित है अतः अपने विषय से हटकर पढ़ना कम ही हो सका। सुसंभाव्य के तीन या चार अंक मेरे पास आ चुके थे। अप्रैल 2016 के अंक में मेरे लेख को स्थान मिला, आपसे बात हुई, तब मैंने इस अंक को पढ़ा।

किसी समय साहित्य में बहुत रुचि थी। बहुत कुछ पढ़ा था। लेकिन सब कुछ छूटता चला गया। आज 'एक छाया चेहरे से गुजरी...' मृदुला गर्ग का संस्मरण पढ़ा अज्ञेय ही के विषय में। अज्ञेय जी को बहुत कम पढ़ा था, ठीक से याद भी नहीं, किंतु उनकी साहित्यिक उपलब्धियों से परिचित हूँ। उनमें इसलिए और भी रुचि है कि वे यशपाल की ही तरह अपने विद्यार्थी जीवन में क्रान्तिकारी संगठन से जुड़े रहे थे। उनके विषय में कहीं भी कुछ पढ़ने को मिलता है, तो ध्यान से पढ़ती हूँ इस आशा से कि उनके उस अतीत के विषय में कोई चर्चा मिल जाये। मृदुला जी बहुत अच्छा लिखती हैं। संस्मरण बहुत अच्छा लगा, दिल को छू गया। डा० अखिलेश का संस्मरण 'भूगोल की कला'– कस्बा, गाँव, शहर और फिर लेखक बनने का सफर– परिवर्तन को स्वीकार करने का फलसफा समझा गया।

भेंट वार्ता की पहली पंक्ति में क्रान्तिकारी आंदोलन के इतिहासकार सुधीर विद्यार्थी जी का नाम देखकर पढ़ने को जिज्ञासा हुई। डा० रविशंकर सिंह से राम कुमार कृषक जी के विचारों की रोचक जानकारी मिली। 'लिपे पुते आंगन की ठंडक थीं बलुओं में' बहुत कुछ याद आता रहा। भेंट वार्ता 'सिद्धान्तकर' में लेखक ने अपनी सीधी सादी सरल भाषा–शैली में एक सरल जीवन का सच उजागर किया है– सुबह सिंह जी के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जीवन का एक हो जाना।

अभिनव अरुण की गजलें अच्छी लगीं– 'निकल कर आओ कभी यादों के घरौंदे से, उबलती धूप में सांकल कभी बजाओ भी।' उर्वशी जान्हवी अग्रवाल 'नाजुक सा शीशा' में न जाने कितनी बगावत दिखा गईं'। यूँ तो सभी कविताएँ मन को छू गई।

अच्छी भावना, ऊँचे आदर्शों को लेकर चलने वालों का कार्य ही उनकी पहचान होता है। आपकी पत्रिका ने बहुत प्रभावित किया। मेरी शुभकामनाएँ आपके साथ है।
डा० उषा निगम, कानपुर, मो०–9792733777

आदरणीय श्री दयानन्द जी,
अभी–अभी 'सुसंभाव्य' का अप्रैल 2016 अंक प्राप्त हुआ। इसके पहले भी इसके कई अंक प्राप्त हो चुके हैं, आभार?

आपकी पत्रिका सभी विधाओं को अपने में समाहित करती है और रचनाओं का चयन भी उत्तम रहता है। इसके प्रकाशन के द्वारा आप सुरुचिपूर्ण साहित्यिक व सांस्कृतिक परम्परा का पोषण कर रहे हैं। पत्रिका की छपाई स्पष्ट है और कवर साहित्यिक पत्रिका के अनुरुप। संपादक मंडल को बहुत–बहुत बधाई एवं पत्रिका के भविष्य के लिए शुभकामनाएँ।
सद्भावी
अंजना वर्मा
कृष्णा टोला, ब्रह्मपुरा, मुजफ्फरपुर

आदरणीय सम्पादक
दयानन्द जी! नमस्कार,
'सुसंभाव्य' पत्रिका का अप्रैल अंक मिल गया है। बेहतर संपादन, चयन के लिए बधाई स्वीकारें। यात्रा वृत्तांत, संस्मरण, भेंट वार्ता सब एक से बढ़कर एक। सुसंभाव्य में बहुत संभावनाएँ दिखती हैं। शेष शुभ...
अशोक गौतम
हिमाचल प्रदेश, मो०–9418070089

माननीय श्री दयानन्द जायसवाल जी
सादर नमस्कार
'सुसंभाव्य' का अप्रैल 2016 अंक पढ़ने का सौभाग्य मिला। पुरोवाक् में आपने यह सही कहा है कि साहित्य को आईना भर नहीं रहना है। मैं स्वयं इस बात को कहता रहा हूँ कि साहित्य को समाज का दर्पण नहीं, वरन प्रकाश स्तम्भ होना चाहिए, ताकि वह समाज को दिशा–बोध दे सके। उसका मार्गदर्शन कर सके। पत्रिका हर दृष्टिकोण से अच्छी है। निःसन्देह यह हिन्दी साहित्य की शिखर पत्रिका है। इस स्तुत्य प्रयास की जितनी प्रशंसा की जाए, कम ही होगी। मेरी ओर से बधाई स्वीकारें।
त्रिलोक सिंह ठकुरेला, राजस्थान, मो०–09460714267

संपादक महोदय
सुसंभाव्य, भागलपुर
सुसंभाव्य का अप्रैल 2016 का अंक मिला। स्तरीय पत्रिका के लिए बधाई।
जेनी शबनम, दिल्ली

आदरणीय दयानन्द जायसवाल जी
सादर नमस्कार
आपकी पत्रिका का अप्रैल 2016 का अंक मिला। धन्यवाद! बिना किसी मूल्य के साहित्यिक उत्थान के लिए प्रतिबद्ध 'सुसंभाव्य' अपने आपमें अनुठी पत्रिका है। आज के अर्थयुग में ऐसी कोई दूसरी पत्रिका नहीं है, यह कहना अतिशयोक्ति न होगा। आप सहित पूरा सुसंभाव्य परिवार इस हेतु बधाई के पात्र हैं।
डा० कमलेश द्विवेदी
कानपुर, मो०–9415474674

आदरणीय सम्पादक जी! 'सुसंभाव्य' (भागलपुर)
हमारी 'सुसंभाव्य' है ही प्रसंशा योग्य। हर तरफ से परिपूर्ण। नये

पुराने लेखक और कवि। उत्तम पाठन सामग्री, विवेचनाएँ, आलोचनाएँ। बहुत कम समय में यह एक विश्वस्तरीय पत्रिका बन गयी है। इसका सारा श्रेय इसके संपादक मंडल और प्रबन्धन को जाता है। व्यक्तिगत रुप से दयानन्द जी जो पूर्णतया समर्पित हैं, इसकी देखभाल और विकास में। उनकी मेहनत तथा सश्रम योगदान ने इस पत्रिका को नयी ऊँचाईयाँ दी है।

मेरी हार्दिक शुभकामना और स्नेह इस पत्रिका को ।

अखिलेश चन्द्र श्रीवास्तव
महाराष्ट्र, मो०–9321497415

सम्पादक महोदय! 'सुसंभाव्य' (भागलपुर)

अच्छी पत्रिका है 'सुसंभाव्य' भागलपुर, बिहार से निकलती है। दयानन्द जायसवाल जी इसके मुख्य संपादक हैं। दयानन्द जी नियमित तौर पर पत्रिका भेजते रहे हैं। नया अंक भी बढ़िया बन पड़ा है। संपादक की मेहनत दिखाई पड़ती है। इस अप्रैल–2016 के अंक में भी कहानी आलोचना, भेंट वार्ता, ग़ज़ल यहाँ तक कि संस्मरण आदि सारी सामग्री स्तरीय हैं। बस कविताएँ कुछ और और स्तरीय हो तो बेहतर।

मेरी शुभकामनाएँ और साधुवाद। दयानन्द जायसवाल जी के अथक प्रयासों को जो निरंतरता से पत्रिका संपादित कर रहे हैं।

अंजू शर्मा
दिल्ली
ई–मेल : anjusharma2011@gmail.com

आदरणीय दयानन्द जी,

सप्रेम नमस्कार

अप्रैल–2016 का 'सुसंभाव्य' यथा समय प्राप्त हुआ। इस पत्रिका में कुछ स्थापित लेखकों का योगदान प्रशंसनीय है। सम्पादकीय की भाषा और सोच में अपनापन दिखाई दिया। 'विश्व कल्याण और शान्ति की दिशा में राष्ट्रीयता सब से बड़ा बाद्यक तत्व बना बैठा है।'

इसके बरक्स जब विशेष विचारधारा के छाते तले कुछ लोग देश तोड़ने और सीमा रक्षार्थ खेड़ प्रहरियों पर भद्दे इल्ज़ाम लगाते है तो राष्ट्रीयता की भावना अनायास ही जागृत होना अनिवार्य है। सत्ता बदली है तो आमजन की सोच में परिवर्त्तन तो होगा ही। मृदुला गर्ग जी का 'संस्मरण' वास्तव में पठनीय और संग्रहणीय रचना है। मोहनदास नेमिशराय का 'सिद्धान्तकर' एक अनूठी भेंट–वार्ता लगी। सुबह सिंह जैसे पात्र अतीत का सपना जैसे लगते हैं। पूर्व राष्ट्रपति अब्दुल कलाम का कथन 'सपने वे नहीं जो रात में आदमी देखता है, सपने वे होते हैं, जो रात में किसी को सोने नहीं देते'। युवा पीढ़ी के लिए यह प्रेरणा का स्त्रोत है। नीलम कुलश्रेष्ठ की कहानी नाकाबंदी एक कालजयी रचना के स्तर की है। ऐसी सुन्दर और प्रभावशाली रचनाओं के चयन के लिए मेरा धन्यवाद स्वीकार करें ।

भवदीय :
बी.डी. बजाज
दिल्ली, मो०–9899263030

प्रिय भाई
नमस्कार !

मैं आपकी पत्रिका की प्रतिक्रिया अवश्य भेजूँ इसीलिए 'समीक्षार्थ' प्रति भेजी जाती है। भविष्य में भी विस्तृत प्रतिक्रिया भेजी जाएगी। मैं समझता था कि जायसवाल भाई व्यापारी होते हैं। साहित्य का शौक है। अतएव पत्रिका निकालते हैं। परन्तु आपकी पहली ही कविता पढकर मैं विस्मय विमुग्ध हो गया। तत्काल लिख नहीं पाया उसपर। पर मन–प्रांतर में वह छाई रहती है। पत्रिका को नि:शुल्क वितरण करना यह भी बड़ी हिम्मत का काम है। देश की ख्याति प्राप्त हस्तियों का प्रतिनिधित्व आपके साहित्य–कर्म, समर्पण भाव का सच्चा रुप है। परमात्मा करें आप खूब लिखें, खूब पढ़ें, और यशाकाश में छायें रहें।

अज्ञेय ऐसे जटिल, आत्मकेंद्रित अहंवादी के व्यक्त्वि की अंतर्यात्रा, मृदुला गर्ग का संस्मरण करता है। उनका अहं जितना भी उद्दाम हो, आक्रमक हो पर उनका साहित्यकार इतना संवेदनशील है कि नहीं चाहकर भी दूसरे के सुख–दु:ख का साथी हो जाता है। एकदम विषय विपरित परिस्थितियों में भी भाषा और शिल्प के अद्भूत चितेरे अज्ञेय का कला के प्रति समर्पित बने रह कर साहित्यिक विरादरी का सम्मान जीतना चमत्कार से कम नहीं था। उन्हें ईमानदारी और साहस के साथ अपने नितांत मौलिक चिंतन को शब्द देते सुन चुकी थी। मृदुला गर्ग ने बड़ी कुशलता से अपनीअस्मिता, संस्कार आदि का ध्यान रखते हुए उन्हें दो टूक उतार दिया बिना यह परवाह किये की प्रतिक्रिया क्या होगी। पर अज्ञेय से उनका मिलना साकारात्मक हुआ। यों दोनों की व्यक्तित्व की खुद्दारी की हल्की सी टकराहट का बोध हुआ।

कितनी बड़ी बिडंवना है कि आईना बाहरी हाव–भाव, रुप–रंग तो बता देता है, पर भीतर की यात्रा नहीं कर पाता है। महेश भाई को इसी से आपत्ति है। गोरी दर्पण में अपना सौंदर्य देख कर भले ही मुग्ध हो जाय पर भीतर छिपा कलुष प्रगट नहीं हो पाता है। आवश्यकता है भीतरी मन को स्वयं दर्पण बना कर देखा जाय। मनुष्य के सुधार और उद्धार का यही सही प्रकल्प है।

'साफ करो आईने को देखो क्या तस्वीर है असली, चेहरे की सारी सुन्दरता बिल्कुल धोखा, बिल्कुल नकली'।

इसलिए सदैव कामना की जाती है 'जब मन दर्पण हो जाये। भाई बजाज ने प्रकृति के अदभूत खेल, उनकी अनंत लीलाओं, रुप–विन्यास पर विरच कर विचार किया है तो प्रेम की अनिवार्यता, आवश्यकता पर भी बल दिया है। अन्यथा शरीर निष्प्राण मृतक है। उसी प्रकार प्रेम के बिना जीवन व्यर्थ है। आज के नकली प्रेम की निस्सारता पर उनका मारक प्रहार है। परन्तु प्रेम न कुछ देखे, न कुछ सुने, न कोई अपेक्षा करे, तभी वह प्रेम है अन्यथा व्यापार या औपचारिकता।

डा० शिव प्रसाद शुक्ल ने 'आदिवासी और धूणी तपे तीर' में उनका शोषण नाना स्तरों पर किया है। विजय कुमार सप्पति की कविता अकेले की यात्रा का आह्वान करती है। रवीन्द्र नाथ के स्वर–में–स्वर मिलाकर कोई न कोई आए।

पत्रिका इतनी गंभीर और विविध भावधाराओं से संबंर्धित है कि उनपर जितना लिखा जाय कम है। सम्पादक आत्मिकता और भौतिकता के सामंजस्य–समन्वय के आकांक्षी हैं। यही आज की आकांक्षा है।

संपादक एवं लेखकों का जयगान करते हुए बिदा लेता हूँ। 'सुसंभाव्य' मुझे दुष्यंत कुमार के गजल–संग्रह 'साये में धूप' की ओर ले जाता है। 'एक चिनगारी कहीं से ढूढ़ लाओ दोस्तो, इस दीये में तेल से भींगी हुई बाती तो है'।

मृत्युंजय उपाध्याय
धनबाद (झारखण्ड)
मो०–9334088307

आदरणीय सम्पादक महोदय
'सुसंभाव्य', भागलपुर (बिहार)

आपकी पत्रिका नियमित प्राप्त हो रही है। कलेवर, विषयों का लेखन–चयन तथा लेखों, कहानियों, गज़लों–कविताओं में साहित्यिक स्पर्श है, सभी सामग्री उच्च श्रेणी की है। बाजारवाद के इस जमाने में आपका यह साहित्य–प्रेम अद्‌भुत है। अनेकों साधुवाद!
मैं लघुकथा–विद्या से जुड़ा हूँ, अपनी अप्रकाशित लघुकथा भी भेज रहा हूँ।
आपका विश्वासी
दयानन्द
बैंगलोर, मो०–9916691860

आदरणीय सम्पादक महोदय
'सुसंभाव्य', भागलपुर (बिहार)

बड़े ही विस्मय और जिज्ञासा से 'सुसंभाव्य' के अप्रैल अंक का जो मेरे लिये प्रथम अंक था अध्ययन किया। आज जहाँ मुद्रण के घनघोर व्यवसायिक महाभारत में पत्रिकाएं कराहती हुई आर्थिक समस्याओं से जूझती अपनी यात्रा जारी रखे हुए है। 'सुसंभाव्य' जैसी स्तरीय अनमोल पत्रिका प्रकाशित होकर बिना मोल वितरीत हो रही है और वो भी दुनिया के 40 देशों में भारत के 80 से ज्यादा शहरों में। बहुत ही आश्चर्यजनक और विस्मयकारी है यह सब। 'सुसंभाव्य' के संस्थापक और संपादक मंडल तथा पूरी टीम को साधुवाद।

पत्रिका की सामग्री की विविधता और स्तर संपूर्णता लिये हुए है। क्या चाहिये हमें एक पत्रिका में कहानी, लघुकथा, कविता, गीत और ग़ज़ल, संस्मरण, समीक्षा, भेंटवार्ता और अन्य आलेख। अब क्या बचा। एक साहित्यपिपासु को तो संपूर्ण संतुष्टि का सामान हो गया। 'सुसंभाव्य' के अप्रैल अंक का सामग्री विस्तार अद्‌भुत है –जिसमें दो कहानियां, दो लघुकथाएं, चार ग़ज़लें, पांच कविताएं तथा एक गीत हैं। इसके अलावा दो संस्मरण, दो भेंटवार्ता दो आलेख और तीन समीक्षाएं शामिल हैं।

सुश्री मृदुला गर्ग द्वारा प्रस्तुत अज्ञेय जी के संस्मरण और डा० रविशंकर द्वारा प्रस्तुत राम कुमार कृषक से भेंटवार्ता बहुत ही रोचक दिल को छूने वाली लगी। इन साहित्य साधकों की जीवन शैली और साहित्य रचना अद्‌भुत है।

बड़ी इच्छा है कि 'सुसंभाव्य' की कीर्ति और उपलब्धि जन–जन तक पहुंचे और साहित्य के इस महायज्ञ का धुंआ पूरे वातावरण को पवित्र करें।
सधन्यवाद
महेश शर्मा
धार (म० प्र०), मो०–8236940201

आदरणीय! सम्पादक महोदय

सुसंभाव्य का अप्रैल अंक बेहतरीन है। इसके लिए साधुवाद! रवीन्द्रनाथ टैगोर की नई रोशनी पढ़ने का मौका मिला, नीलम कुल श्रेष्ठ की 'नाकाबन्दी' में नारी मनोविज्ञान का बेहतर चित्रण किया गया है। संतोष पटेल की 'जननायक' जद्दोजहद में जूझते इंसान की कथा है जिसे एक निश्चित दिनचर्या में अपने ख्वाब के संग जीते जागते हैं बी०डी० बजाज की कविता प्यार को यथार्थ के धरातल पर खड़ा कर देता है। सचमुच प्रेम जब तक अंधा, बहरा हो तभी तक सम्पूर्णता रहती है। व्यक्ति से व्यक्ति के प्यार में परिवर्तित होते ही ते ही अहं और स्वार्थ इसे एक औपचारिकता ही तो बना देता है। अभिनव अरुण की की गजलें खास की वो पंक्तिया दिल को छू गई–

'मनाने के लिए उसको कई दोने पहुँचते हैं,
सड़क की कोई पगली रात का फाँका नहीं करती।

आपका पुरोवाक् तो खुद में संपूर्णता लिए हुए है। राष्ट्रीयता बहुत अच्छी बात है किन्तु विश्व कल्याण की भावना सर्वोपरि है। परन्तु मैं आप के इस पंक्ति से सहमत नहीं हूँ– 'मूर्ख, अभाव, प्रताड़ना और तबाही में दम तोड़ते लोगों के बीच साहित्यकार प्रेम का गीत गाकर सहज नहीं रह सकते, दरअसल हरजीव में संघर्ष जितना भी चरम पर रहा हो प्रेम कभी मरा नहीं आज जरुरी है कि हम उपरोक्त हर समस्याओं पर आवाज उठायें, परन्तु थककर पुनः नव उर्जा से उठने हेतु प्रेम और हास्य की ही आवश्यकता होती है। जो हमें तरोताजा कर दे। अन्यथा पूरी मानव जाति अवसाद में होगी और इससे बाहर निकलने का कोई मार्ग ही न होगा। प्रेम ही हमें साकारात्मक बना बनाकर आध्यात्म की ओर ले जाता है। मेरी सोच से तो साहित्य के हर रंग में सर्वाधिक सुंदर प्रेम और वात्सल्य है, केवल प्रेम ही मानव को मानवता की ओर अग्रसर करता है।
सधन्यवाद!
शशिकला झा
सुपौल, बिहार
मो०–9471658607

सुसंभाव्य
प्रिंटिंग प्रेस, भागलपुर